गीता सुगीता

शचीन्द्र कुमार

गीता सुगीता

श्रीमद्भगवद्गीता की पद्यात्मक भाषा टीका

अथवा

समश्लोकी हिंदी पद्य रूपांतर

रचयिता

शचीन्द्र कुमार

भूतपूर्व प्राचार्य

सरदार वल्लभ भाई पटेल कॉलेज, भभुआ

एवं

सोमवती महताबदास कॉलेज, पुनपुन

अनुक्रमणिका

ज्ञानमूर्ति, आनन्दघन गुरुदेव

मंगलाचरण

जिन सद्गुरु के श्री चरणों की
तरणी से भव तरते हैं।
उन सद्गुरु के कर-कमलों में
रचना अर्पित करते हैं॥

—शचीन्द्र कुमार

दर्पण में प्रतिबिंबित नगरी
तुल्य जगत यह सारा है।
निजमायाकृत मनःदृश्य,
सपने ज्यों सकल पसारा है॥
जाग्रत होकर दर्शन करते
अपना आत्मा ही अद्वय।
उन गुरु को है नमस्कार
दक्षिणामूर्ति जो हैं अव्यय॥
(दक्षिणामूर्ति स्तोत्र का हिंदी रूप)

—शचीन्द्र कुमार

गायें, पढ़ें, सुनें गीता हम,
अन्य शास्त्र क्यों पढ़ें अनेक ?
पद्नाभ के श्रीमुखनिःसृत
वचनामृत पी छके अनेक।

—शचीन्द्र कुमार

गीता सुगीता कर्त्तव्या
किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य
मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

शुभेच्छा

गीता का वह कर्मयोग फिर
पृथ्वी भर में गूंज उठे।
भारत सचमुच भा-रत हो
मानव जीवन हो धन्य उठे ।।

पृथ्वी के सारे मानव हैं,
उदरपूर्ति में लगे हुए।
कुछ तन से ऊपर उठकर,
हों आत्मप्रेम में पगे हुए ।।

मानव को यदि मिल जाए
वसुधाभर का सारा वैभव।
आत्मा से वंचित होकर
वह पायेगा कितना गौरव ?

गीता का यह शंखनाद सुन
सोया अंतः जाग उठे।
अंधकार, भ्रम का परदा फट
आलोकित हो सत्य उठे ।।

—शचीन्द्र कुमार

खुदा को ढूंढा किया,
पाया खुदा नहीं।
जब खुद को ढूँढ देखा,
पाया खुदा सही॥

—शचीन्द्र कुमार

आदम खुदा नहीं है,
आदम खुदा नहीं।
मगर खुदा के नूर से
आदम जुदा नहीं॥
(लोकोक्ति पर आधारित)

—शचीन्द्र कुमार

रचयिता
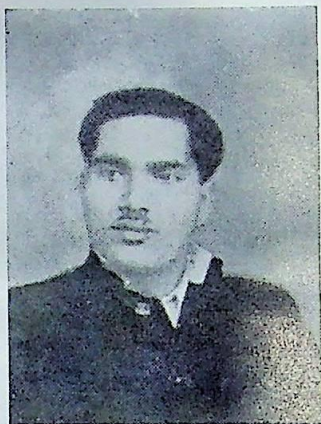
सन् १९४१ में

सन् १९६५ में

सन् १९८१ में

विचारणा

महात्मा गांधी के शब्दों में —"गीता एक महान धर्मकाव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिए उतने ही उसमें से नए और सुन्दर अर्थ लीजिए।"

मगर धर्म है क्या? धर्म के नाम पर भारत में ही नहीं, विश्व भर में जितनी घटनाएँ उत्पीड़न, शोषण, अत्याचार एवं हिंसा की हुई हैं उतनी शायद किसी अन्य कारणवश नहीं।

फिर भी धर्म धर्म है। धर्म से उदासीन होकर, निरपेक्ष होकर मनुष्य खाता-पीता, भारवाही पशु ही रह जायगा। धर्म-निरपेक्षता आत्मवंचना का ही दूसरा नाम है। हाँ, राज्य के लिए धर्म-निरपेक्षता ठीक है क्योंकि राज्य आखिर, जहाँ इतने धर्म हैं वहाँ किस धर्म को अपनाए, किसे प्रश्रय दे? धर्म व्यक्तिगत गुण, भाव या कर्म होकर ही संपूर्ण मनुष्यगत या समाजगत हो सकता है।

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ते" — एक ही सत्य का ब्रह्मज्ञ पुरुषों ने बहुविध वर्णन किया है। वैसे ही धर्म यद्यपि एक है किंतु उसकी व्याख्या, स्वरूप-निर्णय अथवा विधि-विधान समर्थ ज्ञानी पुरुषों ने विभिन्न ढंग से किया है जिसके कारण अनेक धर्म पृथ्वी तल पर अस्तित्व में आ गए हैं। धर्म धर्म में अंततः कोई विरोध नहीं है किंतु वाह्य क्रियाओं, रूपों या साधनाओं के कारण विरोध दृष्टिगत होता है जिसे विरोधाभास ही कहना उचित होगा।

महात्मा गांधी के ही शब्दों में —

"जीव मात्र ईश्वर के अवतार हैं ...., मनुष्य को ईश्वररूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शांति नहीं मिलती। ईश्वररूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन सब धर्मग्रंथों का विषय है वैसे ही गीता का भी है।"

निश्चय ही धर्म सत्य, परम तत्व या आत्म-स्वरूप की उपलब्धि की साधना, पुरुषार्थ या प्रक्रिया का ही नाम है। अनन्त कोटि सूर्य सदृश भासमान सत्य पर पड़े अवगुंठन को जो क्षीणतर करता हुआ सर्वथा विनष्ट कर दे वही धर्म है। इसके विपरीत आत्मा पर पड़े अंधकार के पट को जो घनीभूत करे वह अधर्म है, पाप है।

आधुनिक युग के महान तत्वदर्शी महर्षि रमण के अनुसार :—

“ चेतना को होती नहीं
जब तक अपनी चेतना।
पा नहीं सकती चैन
तब तक कभी चेतना ॥

और, मनुष्य की चेतना, उसका स्व, उसका अंतःकरण निरंतर लगा हुआ है क्षुद्र, क्षणस्थायी वस्तुओं, बुदबुदों की तलाश में, सुविधाओं की खोज में, विषयों के उपभोग में ।

जगत पंच-विषयात्मक है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के अतिरिक्त जगत है क्या ? जाग्रतावस्था में इनके संग्रह और उपभोग में मनुष्य तन्मय रहता है । तत्पश्चात श्रांत क्लांत होकर निद्रावस्था प्राप्त करता हुआ अचेत हो जाता है । फिर दूसरे दिन वही प्रक्रिया, वही दिनचर्या जारी हो जाती है। जीवन के अथ से लेकर इति तक यही दशा है ।

मगर मनुष्य कितना भी बेहोश या अचेत क्यों न हो चेतना की एक छोटी सी किरण अक्षुण्ण बनी रहती है। निद्रा हो या मूर्च्छा अथवा मृत्यु जीव अपनी संपूर्ण चेतना कभी नहीं खोता यह चेतना ही तो, जो सबका ज्ञाता है और स्वयं का भी ज्ञाता है, मनुष्य का स्व है, आतमा है। जब चेतना पूर्ण जाग्रत हो जाती है, अपने आप में, स्व में स्थित हो जाती है तो वह स्वयं को सत्, चित्त् एवं आनंद स्वरूप पाती है। यही आत्मदर्शन है, सभी धर्मों का सार है, कर्म सौध की सर्वोच्च मंजिल है, योग का चरम रहस्य है, भक्ति की पराकाष्ठा है, ज्ञान की परम उपलब्धि है।

यह अवस्था कैसे उपलब्ध हो, कैसे हमें अपना जरा--मरणरहित, निर्मल, अमृतमय सच्चिदानन्दस्वरूप प्राप्त हो, इसकी साधना का उपदेश ही गीता में पगपग पर आद्यंत अंकित है ।

कर्म, भक्ति एवं ज्ञान ये तीन मार्ग या तीन प्रकार की साधनाएँ चिरकाल से चली आ रही हैं। इनका बारंबार गीता में उल्लेख हुआ है। सभी मनुष्यों की संरचना एक-सी नहीं हैं यद्यपि दीखते एक से हैं। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक संरचना को ध्यान में रखकर ही ये तीन मार्ग प्रसृत हुए हैं ।

फिर, ये तीन मार्ग भी अलग थलग नहीं किए जा सकते। ये तीनों इतने संश्लिष्ट हैं कि इन्हें अलग करना दुष्कर है । समस्त कर्मों, यज्ञों, भक्तिपूरित

उपासनाओं का पर्यवसान ज्ञान में ही होता है । ज्ञान साधना-उपासना की अंतिम कड़ी है । साथ ही ज्ञान की आवश्यकता अथ से इति तक रहती है । इसलिए ज्ञान सर्वोपरि है । भगवान ने गीता में आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी भक्त के चार प्रकार बतलाते हुए ज्ञानी को अपनी आत्मा ही बतलाया है । "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं इह विद्यते ।" आदि वाक्यों से ज्ञान की महिमा प्रकट होती है । ज्ञान के समान पवित्र सृष्टि भर में कहीं कुछ भी नहीं है । वह ज्ञान कर्मयोगी को अपने आप समय पाकर उपलब्ध हो जाता है ।

ज्ञान प्राप्ति की तीन शर्तें हैं--श्रद्धा, तत्परता एवं संयम । जहाँ इनकी त्रिवेणी होगी वहीं पुण्यतोया ज्ञान गंगा भी प्रवाहित होगी जिसमें डुबकी लगा कर जीव पराशांति की मुक्ता प्राप्त कर कृतकृत्य अनुभव करेगा ।

गीता योग शास्त्र है । उसके अठारह अध्यायों में से प्रत्येक का नामकरण पृथक पृथक योग के नाम से हुआ है और प्रत्येक अध्याय के अंत में वह नाम दुहराया गया है । प्रथम अध्याय में अर्जुन विषाद योग से लेकर अठारहवें अध्याय में मोक्ष संन्यास योग तक योग ही योग का उल्लेख एवं वर्णन है ।

यह योग है क्या ? योग शब्द कई अर्थों का बोधक है । पर मुख्यतः योग शब्द अष्टांग योग के लिए ही प्रयुक्त होता है एवं अष्टांग योग के लिए रूढ़ हो गया है । तथापि योग हर उस साधन को कहते हैं जिससे आत्मदर्शन, कैवल्य, समाधि, निर्वाण, मोक्ष, जो भी कहें, सिद्ध हो । महर्षि पतँजलि ने योगसूत्र में स्वयं कई प्रकार के योगों का उल्लेख किया है जिससे समाधि सिद्ध होती है यद्यपि उनमें प्रधानता अष्टांग योग की ही है । "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" सूत्र द्वारा उन्होंने अनन्य शरणागति अथवा भक्ति की ही पुष्टि की है जिसके द्वारा अनेक साधनों की अपेक्षा शीघ्र समाधि लब्ध होती है । गीता में भी :—

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।

अथवा

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षिष्यामि मा शुचः ।।

आदि अनेक श्लोकों द्वारा भक्ति को सर्वाधिक महत्ता प्रदान की गई है ।

अष्टांग योग का वर्णन गीता में अनेक स्थलों पर आया है—६ठे अध्याय में आसन एवं ध्यान का तथा चतुर्थ, पंचम एवं अष्टम् में प्राणायाम का ।

वस्तुतः गीता के अनुसार कर्म, भक्ति, ज्ञान तीनों एक से बढ़कर एक कैवल्य प्राप्ति के साधन हैं । पर इन सब में योग ओत प्रोत है । वह योग है अनासक्ति. कर्म फल त्याग । सभी मार्गों में इसकी आवश्यकता होती है । योग की प्रशंसा में भगवान ने कहा है कि कोरे ज्ञानियों, तपस्वियों एवं कर्मकांडियों की अपेक्षा योगी कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं ।

यद्यपि आत्मज्ञानी पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि वह सत्य में प्रतिष्ठित पूर्ण पुरुष है फिर भी लोक संग्रहार्थ उसे कर्म करना ही चाहिए । सिद्धि-प्राप्ति के लिए तो कर्म नितांत प्रयोजनीय है ही मगर सिद्धि प्राप्ति के पश्चात भी कर्म उपेक्षणीय नहीं, करणीय है । वह कर्म है निष्काम कर्म । फलासक्ति रहित कर्म । अनासक्त कर्म-योगी को 'जल में शतदल तुल्य' पाप या मालिन्य स्पर्श नहीं कर सकता । "योगः कर्मसु कौशलम्" "समत्वं योग उच्यते" आदि महावाक्यों द्वारा निष्काम कर्म की श्रेष्ठता एवं उसका सुफल, समत्व बतलाया गया है । समत्व-प्राप्त निष्काम कर्मयोगी पाप-पुण्य दोनों से ऊपर उठ जाता है, वह अहंकार से मुक्त हो जाता है, उसमें कर्त्ता का भाव नहीं रहता, उसकी बुद्धि अत्यंत निर्मल हो जाती है । ऐसा व्यक्ति कभी भी पाप का भागी नहीं बनता, वह पाप-पुण्य दोनों से सर्वथा अलिप्त रह जाता है ।

सांख्य योगी स्थितप्रज्ञ पुरुष,
शरणापन्न भक्त पुरुष,
प्रकृति के अतीत, अकर्त्ता, त्रिगुणातीतपुरुष,

एवं

दैवी संपदा सम्पन्न पुरुष—सभी के लक्षण मिलते-जुलते हैं । निश्चय ही किसी भी मार्ग द्वारा परम सत्य की उपलब्धि हो सकती है मगर निष्कामता सब में अपेक्षित है, गीता का यही मूलमंत्र है । उपनिषदों का भी यही संदेश है—

यो ऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो ।
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।।

गीता है भी उपनिषदों का सार-सर्वस्व ।

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन के चार पुरुषार्थ या लक्ष्य —धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष बतलाए गए हैं ।

अर्थ परमावश्यक है, मूलभूत आवश्यकता है। अर्थ बिना अनर्थ ही अनर्थ है। काम प्रजोत्पत्ति, प्रणय सुख, पारिवारिक एवं कौटुंबिक सुख के लिए अनिवार्य है। अर्थ और काम दोनों मिलकर ऐहिक सुख को पूर्णता प्रदान करते हैं।

किंतु अर्थ और काम जीवन में यथेष्ठ हों और धर्म न हो तो जीवन पापमय, अनर्गल एवं निकृष्ट बन जाता है। यदि धर्म रूपी संयम की डोर न हो, तो जीवन अर्थ एवं काम के पंकिल दलदल में डूब कर विनष्ट हो जाता है। धर्म जीवन को मर्यादित करता है, दृष्टि को अनन्त जीवन की ओर मोड़ता है, मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

अब, सर्वोच्च लक्ष्य या परम पुरुषार्थ, मोक्ष पर गौर करें। मोक्ष क्या चीज है ? मोक्ष किसी वस्तु, लोक या देवता या अपने से अन्य किसी ईश्वर की प्राप्ति नहीं है। मोक्ष का अर्थ है छुटकारा, पूर्ण स्वतन्त्रता, जहाँ कोई कुंठा न हो अवरोध न हो, बैकुन्ठ। चन्द्रमा और सूर्य को ग्रहण लग जाता है। अखिल जगत को प्रकाशित करनेवाला देदीप्यमान सूर्य दिन में ही अंधकाराछन्न होकर अत्यन्त मलिन हो जाता है। जब ग्रहण दूर हो जाता है तब कहते हैं, मोक्ष हो गया। और सूर्य पुनः अपने सम्पूर्ण तेज के साथ उद्भासित हो जाता है। सोलहों कलाओं से पूर्ण ज्योत्स्नापूर्ण चन्द्रमा का भी यही हाल हो जाता है। ग्रहण लगता है तब चन्द्रमा अत्यंत मलिन हो जाता है और ग्रहणोपरांत मोक्ष हो जाता है तब सर्वत्र शीतल चाँदनी छिटक जाती है।

जीव की भी यही दशा है। उसे ग्रहण लगा हुआ है। संसार, शरीर, मन, बुद्धि, प्राण एवं उनसे उत्पन्न संकल्पों, विकल्पों, वासनाओं एवं विचारों का। पंच कोषों का आवरण है। इनसे छूटना, अलग हो जाना ही मोक्ष है। छूटकर वह अनन्त कोटि सूर्य के समान भासमान होने लगता है, अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता हैं, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ हो जाता है।

कविवर सियाराम शरण गुप्त की एक अनूठी कृति है—"गीता संवाद" जिसमें उन्होंने गीता का समश्लोकी अनुवाद संस्कृत के उन्हीं छंदों में किया है जिनमें स्वयं गीता निवद्ध है। "गीता संवाद" का "निवेदन" पढ़कर मुझे ज्ञात हुआ कि "बापू लोक भाषाओं में श्रीमद्भगद्गीता का पद्यानुवाद चाहते थे।"

बाबू की चाह ने जैसे कविवर गुप्त जी को "गीता संवाद" प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी वैसे ही इस जानकारी ने, साथ ही "गीता संवाद" ने मुझे हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल हिन्दी पद्यों में समश्लोकी रूपान्तर, यह "गीता-सुगीता" प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी है।

दूसरे, गीता का अध्येता मैं प्राय: आधी शताब्दी से रहा हूँ। अनेक भाष्य एवं टीकाएँ मेरी नजरों से गुजरी हैं। इन सबका मुझपर अमिट प्रभाव पड़ा है। विशेषकर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ जिन्होंने सर्व प्रथम मेरी दृष्टि संसार से ऊपर उठाई।

तीसरे, मातृभाषा के ऋण से उऋण होने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो कुछ मेरे जीवन में शुभ एवं शुक्ल है वह सब उसीका प्रसाद है। तथापि श्रद्धा भाव से क्यों न यकिंचित "पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं यह अकिंचन बालक भी विनम्रतापूर्वक अर्पण करे?

❀

पदार्थभावना

जनाकीर्ण जग की बस्ती में
मैं हूँ केवल एक अकेला।
एऽको ब्रह्म द्वितीयो नाऽस्ति,
एऽको ब्रह्म द्वितीयो नाऽस्ति ॥

मन की बगिया महक रही है
फूल खिले हैं अनगिन सुन्दर।
फ़ल-फूल पर मँडराते हैं
अलियों के दल मनहर मंथर ॥

पर सच यह है फूल न कोई
नहीं भ्रमर कोई अलबेला।
जनाकीर्ण जग की बस्ती में
मैं हूँ केवल एक अकेला ॥

सागर एक दूर तक फैला
जिसका कोई छोर नहीं है।
रत्नाकर में रत्नराशि इतनी है
जिसका ओर नहीं है ॥

पर सच यह है जलधि न कोई
नहीं रत्न कोई चमकीला।
जनाकीर्ण जग की बस्ती में
मै हूँ केवल एक अकेला॥

अगणित ताराओं से मंडित
नीलांचल जग पर छाया है।
दिन में सूर्य, रात में शशि से
आलोकित वसुधा-काया है॥

पर सच यह है व्योम न कोई
यहाँ न कोई उडुगण मेला।
जनाकीर्ण जग की बस्ती में
मैं हूँ केवल एक अकेला॥

मूरख, पंडित, गोरे, काले,
साधु, असाधु, वड़े बलवाले।
मर्द नपुंसक, नारी सुन्दर,
भिखमंगे, भारी धनवाले॥

पर सच यह है मनुज़ न कोई
यहाँ नही नारी-नर मेला।
जनाकीर्ण जग की बस्ती में
मै हूँ केवल एक अकेला॥

शत सहस्र मंदिर हैं भूपर
कोटि कोटि हैं तीर्थ यहाँ पर
इनमें भरे हुए हैं पूरे
शिष्य, सद्‌गुरु, संत, विप्रवर ।।

पर सच कोई नहीं सद्‌गुरु
यहाँ नहीं है कोई चेला।
जनाकीर्ण जग की वस्ती में
मैं हूँ केवल एक अकेला ।।

—शचीन्द्र कुमार

देव ! कर्ण से भद्र सुनें हम
देखें भद्र चक्षुओं से ।
यज्ञ प्रार्थना करें देवहित
स्वस्थ जिएँ सब अंगों से ॥

प्रथम अध्याय

(अर्जुन विषाद योग)

संसार "दुःखालयमशाश्वतम्" है, इस "अनित्यमसुखं" जीवन में विषाद का ही आधिक्य है। फिर, विचारवान पुरुषों के लिए तो सर्वत्र दुख ही दुख है—"सर्वं दुःखं मनीषिणः"।

भारतीय वाङ्मय में साधना दो रूपों में वर्णित है। समर के रूप में एवं समुद्रमंथन के रूप में। एक ओर देव, दूसरी ओर दानव यानी हृदयस्थ दैवी प्रवृतियाँ एवं आसुरी प्रवृतियाँ।

समुद्रमंथन में पहलेपहल हालाहल निकलता है जिसे पीकर नीलकंठ बनना पड़ता है। यही अर्जुन का विषादयोग है। विषाद भी योग का अंग है क्योंकि वह योग की ओर उन्मुख करनेवाला है।

धृतराष्ट्र ने कहा :—

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र स्थल में
युद्ध हेतु एकत्र हुए,
मेरे पुत्रों ने, पांडव ने
क्या-क्या किया कहो संजय ॥ १ ॥

संजय बोला :—

व्यूहबद्ध पांडव सेना को
देखा जब दुर्योधन ने,
पहुँचा पास द्रोण गुरुवर के
कहा विनीत वचन उसने ॥ २ ॥

तनिक देखिए तो गुरुवर
पांडव की सजी अमित सेना,
इसे सजाया द्रुपद-पुत्र ने
शिष्य आपका कुशल घना ॥ ३ ॥

बड़े धनुर्धर शूरवीर हैं
भीमसेन सम अर्जुन सम।
हैं युयुधान, विराट, द्रुपद नृप
कोई नहीं किसीसे कम ॥ ४ ॥

धृष्टकेतु हैं, चेकितान हैं,
काशिराज हैं, पुरुजित हैं।
कुंतिभोज हैं, श्रेठशैव्य हैं,
सभी महानरपुंगव हैं ॥ ५ ॥

पराक्रमी ये युधामन्यु,
बलवीर उत्तमौजा ये हैं।
पुत्र-सुभद्रा, द्रौपदेय हैं,
महारथी सारे जन हैं ॥ ६ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! जान लें उनको,
जो विशिष्ट अपने दल में।
नाम गिनता हूँ चुनचुनकर,
जो सेनानायक दल में ॥ ७ ॥

स्वयँ आप हैं, भीष्म, कर्ण हैं,
कृपाचार्य हैं युद्धकुशल।
अश्वत्थामा, हैं विकर्ण,
हैं सोमदत्त के पुत्र प्रबल ॥ ८ ॥

मेरे हित प्राणों को अर्पित,
करनेवाले वीर अनेक।
नाना शस्त्रों के प्रयोग में,
निपुण, युद्ध में कुशल अनेक ॥ ९ ॥

भीष्म सुरक्षित अपनी सेना,
बल में महा असीमा है।
भीम सुरक्षित पांडव सेना,
बल में हीन ससीमा है ॥ १० ॥

जहाँ जहाँ हों सभी ओर से
सारी सेना के बलवीर।
भीष्म पितामह की रक्षा में
लगे रहें सारे रणधीर ॥ ११ ॥

उसको नंदित करने का तब
भीष्मराज ने यत्न किया।
सिंहनाद कर उच्च स्वरों में
अपना शंख निनाद किया ॥ १२ ॥

विविध वाद्य बज उठे सभी फिर
शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग।
तुमुल नाद जो हुआ अचानक
सुना सभी ने हुए सशंक॥ १३॥

इतने में सफेद घोड़ों से
जुते हुए सुन्दर रथ पर।
बैठ बजाए दिव्य शंख
माधव ने पांडव ने रवकर॥ १४॥

पाँचजन्य फूंका माधव ने
देवदत्त को अर्जुन ने।
पौंड्र नाम के महाशंख को
फूँका भीम वृकोदर ने॥ १५॥

कुंतीपुत्र युधिष्ठिर ने
फूँका निज शंख, अनंत विजय।
शंख सुघोष नकुल ने फूँका,
मणिपुष्पक सहदेव अभय॥ १६॥

बड़े धनुर्धर काशिराज ने
उस रणवीर शिखंडी ने,
धृष्टद्युम्न ने, उस विराट ने,
अजय अभय नर सात्यकि ने॥ १७॥

द्रुपद राज ने, द्रौपदेय ने
महाबाहु अभिमन्यु ने,
हे राजन ! ले ले कर अपने
शंख बजाए वीरों ने ॥ १८ ॥

शंखों के उस तुमुल नाद से
कौरव हृदय विदीर्ण हुआ।
धरती से आकाश तलक
गुँजरित नाद भरपूर हुआ ॥ १९ ॥

तभी कपिध्वज अर्जुन ने
देखी सज्जित कौरव सेना।
शस्त्र चलाने को उन्मुख हो
कर में लिया धनुष अपना ॥ २० ॥

हे राजन ! फिर बोल उठा वह
अर्जुन बोला—
हृषीकेश, अच्युत, केशव !
रथ को दोनों सैन्य बीच
अब खड़ा करें, ले चल केशव ॥ २१ ॥

युद्ध कामना से प्रेरित हो
रण प्रांगण में खड़े हुए,
देखूँ किन-किन से लड़ना है
कौन सामने अड़े हुए ॥ २२ ॥

युद्धक्षेत्र में हुए एकठ्ठे
उन्हें देख लूँ इस क्षण में,
दुर्योधन दुर्बुद्धि हेतु हैं
कौन-कौन आए रण में ॥ २३ ॥

संजय बोला—

हे भारत! जब गुड़ाकेश ने
केशव से यह कथन किया।
दोनों सेना बीच रथोत्तम
हृषीकेश ने खड़ा किया ॥ २४ ॥

भीष्म, द्रोण थे सम्मुख,
सम्मुख अन्य सभी थे राजागण।
बोले, देखो पार्थ! इकठ्ठे
आये सारे कौरव गण ॥ २५ ॥

देखा अर्जुन ने चाचा हैं
दादाजी हैं, गुरुवर हैं।
मामा, भ्राता, पुत्र, पौत्र हैं
और अनेक मित्रवर हैं ॥ २६ ॥

श्वसुर वहाँ हैं, सुहृद वहाँ हैं
दोनों सेना बीच खड़े।
देखा आँखें फाड़ फाड़, हैं
सर्व बंधुगण वहाँ अड़े ॥ २७ ॥

होकर दीन, मलिन बोला
लेकर विषाद, करुणा मन में—

अर्जुन बोला—

कृष्ण ! देख स्वजनों को सम्मुख
युद्धहेतु आये रण में ॥ २८ ॥

अंग अंग हैं शिथिल हो रहे
मुख मेरा है सूख रहा।
रोमांचित होता है, मेरा
सारा तन है काँप रहा ॥ २९ ॥

हाथों से गाण्डीव सरकता
त्वचा जल रही मेरी है।
खड़ा नहीं रह सकता क्षण भर
चक्कर देता अब सिर है ॥ ३० ॥

सारे लक्षण उलटे हैं ये
देख रहा हूँ मैं केशव !
स्वजनों की हत्या करके है
पाना क्या श्रेयस केशव ॥ ३१ ॥

नहीं लालसा मुझे विजय की
नहीं राज्य की या सुख की।
मुझे राज्य से, भोगों से,
जीवन से क्या है लेने की ? ॥ ३२ ॥

जिनके खातिर राज्य, भोग, सुख
सबकी मैंने चाहत की,
वे हो खड़े हुए हैं रण में
छोड़ आश जीवन धन की ॥ ३३ ॥

खड़े यहाँ आचार्य, पितर हैं
पुत्र, पितामह, मातुल हैं,
श्वसुर, पौत्र, श्यालक हैं सारे
जितने संबंधीजन हैं ॥ ३४ ॥

हे मधुसूदन ! मारें ये पर
नहीं चाहता मारूँ मैं।
पृथ्वी की क्या बात ? मिले
त्रैलोक्य राज्य ना चाहूं मैं ॥ ३५ ॥

धार्तराष्ट्रों की हत्या करने
की मेरी है साध नहीं।
आततायी ये भले रहें
पातक होगा बस, पुण्य नहीं ॥ ३६ ॥

हे माधव। यह उचित नहीं
अपने बांधव को मारें हम।
स्वजनों की हत्या करके किस
किस सुख को पायेंगे हम ॥ ३७ ॥

लोभ मलिन मन इनका है
ये नहीं देखते हैं कुलनाश,
मित्रद्रोह में क्या पातक है
क्या पातक है बंधु विनाश ।। ३८ ।।

हमें बोध है इन बातों का
हम अभिज्ञ इन दोषों से।
जानबूझ कर पाप करें फिर,
क्यों न बचें इन दोषो से ? ।। ३९ ।।

होता है कुलनाश जहाँ
कुलधर्म सनातन नस जाता।
धर्मनाश होने पर तो फिर
सारा कुल ही धँस जाता ।। ४० ।।

केशव ! जब बढ़ता अधर्म तब
होती नारी दूषित है।
जब होती कुलनारी दूषित
संतति दूषित होती है ।। ४१ ।।

संकर संतति कुलघातक है
नरक बास तब होता है।
पिंडोदक बिन पितर तड़पते
अधः पतन तब होता है ।। ४२ ।।

संकरसुत के इन दोषों से
सारा वंश बिनस जाता।
नस जाता है जाति, धर्म,
कुलधर्म सनातन नस जाता ॥ ४३ ॥

जिनका हो कुलधर्म नष्ट
ऐसे मनुजों का हे केशब,
नरकबास बहुदीर्घ काल तक
सुन रक्खा, होता केशव ॥४४ ॥

अहो ! शोक है, महापाप
करने को हम तुल गए यहाँ।
राज्य लोभ से अंधे होकर
स्वजन नाश कर चले यहां ॥ ४५ ॥

मारा जाऊँ बिना लड़े जो
हथियारों से रहित हुआ,
कौरव मारें रण में मुझको
समझूँगा कल्याण हुआ ॥ ४६ ॥

संजय बोला--

समर भूमि में ऐसा कह कर
रथ में पीछे जा बैठा।
डाल दिया गांडीव तीर
अर्जुन शोकाकुल जा बैठा ॥ ४७ ॥

ऊँ तत्सत्

इस प्रकार श्री मद्भगद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग शास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'अर्जुन विषादयोग' नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

सांख्य योग

सांख्ययोग ज्ञानयोग का दूसरा नाम है। ज्ञान की इतनी महत्ता है कि वह अकेले ही मोक्ष देने में समर्थ है। स्थितप्रज्ञ या समाधिस्थ पुरुष के लक्षण जीवनमुक्त पुरुष के लक्षण हैं। जिसने शरीर एवं संसार की क्षणभंगुरता तथा आत्मा की अमरता जान कर निष्कामता साध ली वही स्थितप्रज्ञ है। श्लोक संख्या ५५ द्वितीय अध्याय की कुंजी है, मूलसूत्र है, शेष उसी का विस्तार है।

संजय बोला—

आँसू भरे हुए आँखों में
करुणा से यों दीन बने
शोकमग्न अर्जुन से यों, ये
वचन कहे मधुसूदन ने ॥ १ ॥

श्री भगवान बोले—

अरे! कहाँ से यह कश्मल
इस विषम समय में है आया?
यह अनार्य के योग्य, स्वर्ग
सुख, विमल कीर्ति हरने आया ॥ २ ॥

अरे पार्थ! नामर्द न बन, यह
तुझे नहीं शोभा देता।
क्षुद्र-हृदय-दौर्बल्य छोड़, तू
उठ उसको ठोकर देता ॥ ३ ॥

अर्जुन बोला–

हे मधुसूदन ! भीष्म द्रोण को
रण में कैसे मारूँ मैं ?
हे अरिसूदन ! पूजनीय ये
कैसे बाण प्रहारूँ मैं ? ४ ॥

गुरुजन की हत्या करने से
अच्छा है भिक्षा मांगें ।
रक्त सने इन अर्थ काम के
भोगों से चुपके भागें ॥ ५ ॥

नहीं जानता क्या अच्छा है
वे जीतें या जीतें हम ।
जिन्हें मार मैं नहीं चाहता
जीना, वही खड़े हमदम ॥ ६ ॥

कायरतावश बुद्धि हमारी,
क्षात्र वृत्ति हो गई मलिन ।
मेरा निश्चित श्रेय बता दें
शिष्य आपके शरणापन्न ॥ ७ ॥

नहीं सूझता मार्ग जो कि हो
शोकमुक्त मन, शांति मिले,
मिले राज्य निष्कंटक जग में
भले इन्द्र का राज्य मिले ॥ ८ ॥

संजय बोला–

ऐसा कह कर हृषीकेश से
गुड़ाकेश ने, अर्जुन ने
"ओ गोविन्द ! नहीं लड़ता मैं"
साधा मौन परंतप ने ॥ ९ ॥

हे भारत ! तब हृषीकेश ने
वचन कहे मुस्काते से
उभय सैन्य के मध्य क्षेत्र में
शोकग्रस्त उस अर्जुन से ॥ १० ॥

श्री भगवान बोले–

तुम अशोच्य की सोच कर रहे
प्रज्ञावान बने पंडित।
कभी गतागत नहीं सोचते
जो सच्चे होते पंडित ॥ ११ ।

कभी नहीं थे हम, तुम, ये सब,
कभी नहीं फिर हम होंगे।
कभी नहीं ऐसी सच वाणी
ज्यों के त्यों हम सब होंगे ॥ १२ ॥

इसी देह में जैसे बचपन,
यौवन और बुढ़ापा है,
देहांतर त्यों, धीर पुरुष को
मोह न कभी सताता है ॥ १३ ॥

इस शरीर में सर्दी, गर्मी,
सुख, दुख आते रहते हैं।
कुन्ती पुत्र ! इन्हें तू सहले
ये अनित्य क्षणभंगुर हैं ॥ १४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! जो इन विषयों से
व्यथित नहीं नर होते हैं,
सुख-दुख में जो धीर पुरुष हैं
मोक्ष लाभ वे करते हैं ॥ १५ ॥

नहीं असत् है विद्यमान
औ' सत का कभी अभाव नहीं।
तत्त्वदर्शियों ने देखा है,
दोनों का निष्कर्ष यही ॥ १६ ॥

अखिल जगत है व्याप्त इसीसे,
इसको तू अविनाशी जान।
इस अव्यय का नाश कौन,
कर सकता है, ऐसा बलवान ? १७ ॥

यह शरीर है नाशवान पर,
देही नित्य, अपरिमित है।
अविनाशी, अक्षय, अमृत है,
लड़ कर्त्तव्य सुनिश्चित है ॥ १८ ॥

इसे मानते जो मारक हैं,
इसे मानता जो मरता।
दोनों हैं अज्ञानी, आत्मा,
नहीं मारता या मरता॥ १९॥

नहीं जन्म लेता या मरता,
सदाकाल है यह रहता।
नित्य, चिरंतन, शाश्वत, अज यह,
मरती देह, न यह मरता॥ २०॥

अज, अव्यय, अविनाशी, अमृत,
जान रहा जो आत्मा है।
कहो पार्थ ! वह पुरुष किस तरह,
किसे मारता, मरता है॥ २१॥

छोड़ पुरातन वस्त्रों को नर,
नूतन वस्त्र पहनता है।
त्यों देही भी देह पुरातन
छोड़ नया तन धरता है॥ २२॥

शस्त्र न इसे छेद सकता है,
अग्नि न इसे जला सकती।
पानी नहीं भिंगो सकता है,
वायु न इसे सुखा सकती॥ २३॥

यह अच्छेद्य है, यह अदाह्य है,
यह अक्लेद्य है, शोष्य नहीं।
नित्य, सर्वगत, सुस्थिर है यह
परम सनातन चलित नहीं ॥ २४ ॥

यह अव्यक्त है, अविकारी है,
मन द्वारा है चिंत्य नहीं।
अतः जान कर इसको ऐसा,
शोक कभी भी उचित नहीं ॥ २५ ॥

यदि तू माने नित्य आत्मा,
मरता और जन्मता है।
महाबाहु ! फिर शोक किसलिए,
करना तुझको जंचता है ॥ २६ ॥

निश्चित मृत्यु जीवितों की है,
निश्चित जन्म मृतकों की।
इस अनिवार्य अवस्था में फिर,
शोक कहो फिर क्यों किसकी ? ॥ २७ ॥

जन्मपूर्व अव्यक्त सभी थे,
मृत्यु बाद अव्यक्त सभी।
प्राणी होते व्यक्त मध्य में,
शाके कहो क्या उचित कभी ? ॥ २८ ॥

अचरज में भर कोई लखता,
अचरज में भर कहता है।
अचरज में भर कोई सुनता,
सुनकर नहीं समझता है ॥ २९ ॥

सब देहों में विद्यमान यह,
नित्य आत्मा वध्य नहीं।
किसी जीव के हेतु शोक,
करना तुझको है उचित नहीं ॥ ३० ॥

जान रहे हो तुम स्वधर्म फिर,
कंपित होना उचित नहीं।
धर्मयुद्ध से बढ़ कर तो,
क्षत्रिय हेतु कुछ श्रेय नहीं ॥ ३१ ॥

अरे पार्थ ! यह अनायास,
बैकुंठ द्वार खुल गया यहां।
बड़े भाग्यशाली क्षत्रिय भी,
पाते ऐसा युद्ध कहां ? ॥ ३२ ॥

यदि तू धर्मयुद्ध छोड़ेगा,
रण में पीठ दिखाएगा।
गिरकर तू स्वधर्म से फिर,
अपयश ही पाप कमाएगा ॥ ३३ ॥

युग युग तक सबकी निंदा का,
पात्र बना रह जायगा।
सम्मानित तुझको अपयश,
मृत्यु से भी बढ़ जायगा॥ ३४॥

भय कारण तुम रण से भागे,
सब की समझ यही होगी।
जो देते थे मान, हँसेंगे,
बड़ी दीनता यह होगी॥ ३५॥

तेरे शत्रु सभी बोलेंगे,
निंदा में अयोग्य वाणी।
धिक्कारेंगे तुझ समर्थ को,
बढ़ कर इससे क्या होनी?॥ ३६॥

मरने पर तू स्वर्ग जायगा,
जीत लहेगा वसुधा भोग।
इसीलिए तू कौन्तेय, उठ,
युद्ध हेतु, पा सुकर सुयोग॥ ३७॥

सुख-दुख हानि-लाभ सम समझो,
समझो विजय-पराजय को।
युद्ध हेतु प्रस्तुत हो जाओ,
पाप नहीं होगा तुमको॥ ३८॥

सांख्ययोग अब तक बतलाया,
कर्मयोग अब तुम सुन लो।
इसका आश्रय लेकर अर्जुन,
कर्म रूप बंधन खोलो ॥ ३९ ॥

इसका बीज सदा बढ़ता है,
कभी न होता उलटा फल।
स्वल्प अंश में इसका पालन,
करता भय महान निर्मूल ॥ ४० ॥

एक रूप निश्चल सुबुद्धि,
होती है कर्मयोगियों की।
बहुशाखा अनन्त होती है,
बुद्धि वासना ग्रस्तों की ॥ ४१ ॥

अज्ञानी जन कर्म कांड में,
लीन हुए से रहते हैं।
"इसके सिवा नही कुछ भी है,"
वेद वचन यों कहते हैं ॥ ४२ ॥

स्वर्गभोगहित जन्ममृत्युफल
देनेवाले कर्मों में,
फँस जाते हैं बहु प्रयास कर
जीवन धन्य समझने में ॥ ४३ ॥

भोग विलासों में फँस कर वे
नष्ट बुद्धि हो जाते हैं,
बुद्धि रहित, एकाग्र शांति, सुख
से वंचित रह जाते हैं ॥ ४४ ॥

त्रिगुण वेद है, हे अर्जुन ! तुम
गुणातीत बस हो जाओ।
द्वन्द्वरहित, सत्त्वस्थ पुरुष,
निर्योग क्षेम नित हो जाओ ॥ ४५ ॥

कूएँ से क्या काम जिसे
मिल गया सरोवर एक विमल ?
वेदों से क्या काम ? हृदय में
ब्रह्मज्ञान का खिला कमल ॥ ४६ ॥

है अधिकार सिर्फ कर्मों पर
कर्मफलों पर कभी नहीं।
कर्मों का फल लक्ष्य नहीं हो,
कर्म त्याग भी लक्ष्य नहीं ॥ ४७ ॥

योगयुक्त सब कर्म करो
आसक्ति छोड़ सब कर्म करो।
मिल जाय फल या असफलता
साम्ययोग यह, कर्म करो ॥ ४८ ॥

कर्म तुच्छ है कर्म योग से
　　कर्मयोग की शरण गहो।
फल पर जिनकी नजर लगी है
　　दयापात्र हैं पुरुष अहो॥ ४९॥

कर्मयोग अभ्यासी उठते
　　पाप पुण्य से ऊपर हैं।
कर प्रयास योगी बनने का
　　कर्म कुशल ही योगी हैं॥ ५०॥

कर्मफलों के त्यागी योगी
　　जो विचारवाले जन हैं,
जन्मबंध से मुक्तिलाभ कर
　　सुपद अनामय पाते हैं॥ ५१॥

मोहपंक में फँसी हुई जब
　　बुद्धि तुम्हारी उबरेगी,
श्रुत, श्रोतव्य सभी विषयों से
　　उदासीन हो, उबरेगी॥ ५२॥

नाना विषयों से चंचल जब
　　बुद्धि तुम्हारी थिर होगी,
योग लभ्य हो जायगा, जब
　　वह समाधि में थिर होगी॥ ५३॥

अर्जुन बोला—

स्थितप्रज्ञ किसको कहते हैं ?
समाधिस्थ किसको केशव ?
स्थितधी कैसे बोला करता,
रहता, चलता है केशव ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान बोले-

पार्थ ! मनोगत सर्वकामना
जब मानव तज देता है,
आत्मा में संतुष्ट हुआ तब
स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥ ५५ ॥

दुख में कभी न विचलित होता,
सुख में कभी न इठलाता,
रागक्रोधभय रहित हुआ जो
स्थितधी मुनि कहलाता ॥ ५६ ॥

अशुभ प्राप्ति से द्वेष न रखता
शुभ पा हर्ष न करता है
उसकी प्रज्ञा सुस्थिर है जो
रागमुक्त चिर रहता है ॥ ५७ ॥

निजेन्द्रियों को जो विषयों से
यों समेट कर रखता है,
ज्यों कछुआ अपने अंगों को
उसकी प्रज्ञा सुस्थिर है ॥ ५८ ॥

निराहार रहता मनुष्य जब
विषय छूट-सा जाता है।
किंतु न जाता रस, रस तो
बस, आत्मलब्धि से जाता है ॥ ५९ ॥

यत्नशील ज्ञानी के मन को
भी विचलित कर देती हैं,
ऐसी ये प्रमत्त इन्द्रियाँ
मन बलात् हर लेती हैं ॥ ६० ॥

संयम में रख निजेन्द्रियों को
मुझमें तन्मय रहता है,
वश में हैं इन्द्रियाँ, उसीकी
निश्चल, सुस्थिर प्रज्ञा है ॥ ६१ ॥

विषयों का चिंतन करने से
उनमें संग उपजता है।
काम संग से होता है
फिर उससे क्रोध उपजता है ॥ ६२ ॥

होता हैं सम्मोह क्रोध से
स्मृतिनाश फिर होता है।
स्मृतिनाश से बुद्धिनाश
फिर सर्वनाश हो जाता है ॥ ६३ ॥

रागद्वेष से रहित पुरुष
विषयों के बीच विचरता है,
आत्मवशी होने के कारण
मन प्रसन्नता लहता है ॥ ६४ ॥

मन प्रसन्न जब रहता है, सब
दु:ख दूर हो जाते हैं।
उनकी प्रज्ञा सुस्थिर होती
जो प्रसन्न नर रहते हैं ॥ ६५ ॥

बिना योग के बुद्धि कहाँ से ?
बिना योग के श्रद्धाभाव ?
बिना भाव के शांति कहाँ से ?
बिना शांति के सुख का भाव ? ६६ ॥

जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ भटकतीं
मन भी वहीं दौड़ जाता,
जल में जैसे वायु नाव को
नर की प्रज्ञा हर लेता ॥ ६७ ॥

महावाहु ! जब सभी ओर से
इन्द्रिय निग्रह होता है,
वश में रहतीं सदा इन्द्रियाँ
उसकी सुस्थिर प्रज्ञा है ॥ ६८ ॥

सब भूतों की निशा जहां है
वहाँ संयमी जगता है।
जिसमें सभी जीव जगते हैं
ज्ञानवान मुनि सोता है ॥ ६९ ॥

सरिताएँ जल भरती रहतीं
पर समुद्र निश्चल रहता,
सर्वकामना जिसकी लय हों
वही शांति सुस्थिर पाता ॥ ७० ॥

सर्वकामना तज कर मानव
हो निश्चिंत विचरता है,
इच्छा, ममता, अहंकार से
मुक्त,, शांतिपद लहता है। ७१ ॥

ब्राह्मीस्थिति यही है अर्जुन
पाकर मुग्ध नहीं होता।
अंत काल तक टिकी रहे यदि
पद निर्वाण प्राप्त होता ॥ ७२ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का "सांख्य योग" नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय

कर्मयोग

कर्मयोग नामक तृतीय अध्याय निष्काम कर्मयोग की महत्ता प्रदिपादित करता है। कर्म किए विना मनुष्य रह नहीं सकता और कर्म करने पर उसका अवश्यंभावी फल भोगना ही पड़ेगा। तब कर्म से मुक्ति कैसे होगी? कर्म से जीवन, आयु एवं भोग तथा जीवन, आयु एवं भोग से पुन: कर्म, यह दुष्चक्र निरंतर चलता ही रहेगा। तब मनुष्य मुक्त कैसे हो? एक ही युक्ति है—निष्काम कर्म, फलासक्ति रहित कर्म। निष्काम कर्म दग्धबीज की तरह होते हैं जिनसे कर्म के पुन: अंकुर नहीं निकलते। प्रारब्ध, संचित एव क्रियमाण में से प्रारब्ध को तो ज्ञानी को भी भोग कर क्षय करना पड़ता है पर संचित एवं क्रियमाण जल जाते हैं, अफलप्रसू हो जाते हैं।

अर्जुन बोला-

बुद्धियोग को श्रेष्ठ कर्म से
आप मानते यदि केशव,
घोर कर्म में लगा रहे हैं
फिर मुझको कैसे केशव? १॥

मिश्रित वाक्यों से शंकाकुल
बुद्धि हो रही मेरी है।
निश्चित मुझको बतलाएँ जो
मेरे हित श्रेयकारी है॥ २॥

श्री भगवान बोले–

पूर्वकाल में मनुज लोक में
मैंने अर्जुन! बतलाईं
सांख्ययोग की, कर्मयोग की
दो निष्ठाएँ समझाईं ॥ ३ ॥

कर्म नहीं करने से नर
निष्कर्म नहीं हो जाता है,
कर्मों के सन्यास मात्र से
मुक्ति नहीं वह पाता है ॥ ४ ॥

बिना कर्म के कोई नर
क्षण एक नहीं रह सकता है
गुण प्रकृति के कर्म कराते
परवश हो नर करता है ॥ ५ ॥

निजेन्द्रियों को संयम में रख
विषयों का चिंतन करता
मन ही मन, ऐसा नर मिथ्या-
चारी मूढात्मा होता ॥ ६ ॥

मन द्वारा संयम में जो नर
निजेन्द्रियों को है रखता,
निज शरीर से कर्मयोग का
श्रेष्ठ पुरुष साधन करता ॥ ७ ॥

नियत कर्म तू कर, अकर्म से
कर्म श्रेष्ठ उत्तम अति है।
बिना कर्म के तो शरीर
यात्रा भी नहीं सभँलती है ॥ ८ ॥

यज्ञ छोड़ कर सभी कर्म
इस जग में हैं बंधनकारी।
संगमुक्त यज्ञार्थ कर्म तुम
करो सदा जो शुभकारी ॥ ९ ॥

आदिकाल में ब्रह्मा बोले
प्रजा संग जब यज्ञ रचा
'इसी यज्ञ से हो विकास,
यह कामधेनु दे फल सच्चा ॥ १० ॥

यज्ञों से देवों का पोषण
देवों से पोषण तेरा,
करें परस्पर पोषण दोनों
अपना श्रेय मिले तेरा ॥ ११ ॥

यज्ञ कर्म से हो प्रसन्न वे
इष्ट भोग तुमको देंगे।
उनका अंश बिना अर्पण जो
भोगे चोर, सजा देंगे'' ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्ट जो भोजन करते
पापमुक्त हो जाते हैं।
अपने लिए पकाते हैं जो
नित्य पाप ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नों से उत्पन्न जीव,
उत्पन्न अन्न वृष्टि से है,
यज्ञों से उत्पन्न वृष्टि,
उत्पन्न यज्ञ कर्मों से है ॥ १४ ॥

उत्पन्न कर्म ब्रह्म से है,
ब्रह्म उत्पन्न ब्रह्म से हैं,
इसीलिए व्यापक परमेश्वर
विद्यमान यज्ञों में हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो चक्र प्रवर्तित
करे न उसका अनुवर्तन,
वह अघायु है, इन्द्रियलोलुप,
व्यर्थ जी रहा है जीवन ॥ १६ ॥

पर जिसकी आत्मा में रति है,
आत्मतृप्त जो रहता है,
आत्मा में संतोष जिसे है
उसे न कुछ भी करना है ॥ १७ ॥

नहीं कर्म से उसे प्रयोजन
नहीं त्याग से पाना श्रेय,
अगजग के सारे जीवों में
उसका कुछ भी कहीं न प्रेय ।। १८ ।।

इसीलिए हो अनासक्त
कर्त्तव्य कर्म तू करता चल ।
जो कर्त्ता है अनासक्त वह
निश्चय पाता मोक्ष अचल ।। १९ ।।

जनकादिक ने परमसिद्धि
पाई थी कर कर्त्तव्यों को ।
करना है सर्वथा उचित फिर
लोकदृष्टि से कर्मों को ।। २० ।।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा करते हैं
लोक अनुकरण करता है ।
जिसको वे प्रमाण बतलाते
लोक अनुसरण करता है ।। २१ ।।

मुझे न कुछ भी पाना या
करना है तीनों लोकों में ।
प्राप्त नहीं क्या मुझको, फिर भी
रत रहता हूँ कर्मों में ।। २२ ।।

सदा जाग कर मैं न करूँ यदि
अपने कर्म सकल अर्जुन !
सब मनुष्य आदर्श मान फिर
कर्म - विमुख होंगे अर्जुन ! ॥ २३ ॥

रहूँ न यदि मैं लीन कर्म में
लोक भ्रष्ट हो जायगा।
संकर कर्त्ता बन जाऊँगा
प्रजा नाश हो जायगा ॥ २४ ॥

जिस प्रकार अज्ञानी जन
आसक्त भाव से कर्म करें,
ज्ञानीजन आसक्ति रहित हो
वैसे जगहित कर्म करें ॥ २५ ॥

करे न ज्ञानी बुद्धि भ्रमित
अज्ञानी कर्मासक्तों की,
संगरहित कर्मों में रत रह
लगन लगाए कर्मो को ॥ २६ ॥

है प्रकृति क्रियमाण, गुणों से
सारे कर्म हुआ करते।
अहंकारवश नर मूढ़ात्मा
अपने को कर्त्ता गुनते ॥ २७ ॥

महाबाहु ! तत्त्वज्ञ पुरुष जो
है गुण कर्मों का ज्ञाता ।
गुण गुण में हैं बर्त रहे
यह जान नहीं मोहित होता ॥ २८ ॥

प्रकृति-गुणों से जो विमूढ़, गुण-
कर्म-लिप्त हो कर्म करें,
मद-बुद्धि उस मूढ़ जनों को
ज्ञानी विचलित नहीं करें ॥ २९ ॥

आत्मबुद्धि से सारे कर्मों
को मुझमें संन्यस्त करो ।
आशा, ममता, राग छोड़,
संताप रहित हो युद्ध करो ॥ ३० ॥

जो मेरा मत मान, कर्म का
अनुष्ठान नित करते हैं ।
श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़ कर,
कर्ममुक्त वे होते हैं ॥ ३१ ॥

द्वेष भाव रख मेरा मत जो
नहीं मानते हैं अर्जुन !
सर्वज्ञान से रहित, समझ लो
अज्ञ, अचेत, नष्ट, अर्जुन ॥ ३२ ॥

ज्ञानी भी तो निज प्रकृति से
प्रेरित कर्म किया करता ।
सभी जीव प्रेरित प्रकृति से,
निग्रह नहीं सफल होता ।। ३३ ।।

सर्व इन्द्रियों का विषयों में,
राग द्वेष रहता ही है।
श्रेय मार्ग के बाधक, उनके
वश में उचित न होना है ।। ३४ ।।

हो स्वधर्म गुण रहित मगर,
परधर्मो से गुणकारी है।
है स्वधर्म में निधन श्रेष्ठ,
परधर्म भयानक भारी है ।। ३५ ।।

अर्जुन बोले --

किससे प्रेरित होकर मानव
पाप कर्म करता रहता ?
वार्ष्णेय ! अन्-इच्छित कैसे,
बलपूर्व ठेला जाता ? ।। ३६ ।।

श्री भगवान बोले –

काम, क्रोध वे जिन्हें रजोगुण,
है पैदा करनेवाला।
पापी, महाशत्रु ये, इनका
पेट नहीं भरनेवाला ।। ३७ ।।

जैसे अग्नि धुएँ से ढँकती,
मल से दर्पण ढँक जाता।
ज्यों जरायु से गर्भ, ज्ञान त्यों
काम क्रोध से ढँक जाता॥ ३८॥

ज्ञानीजन का नित्य शत्रु यह,
ज्ञान इसीसे ढँका हुआ।
अग्नि सदृश दुष्पूर काम है,
कभी नहीं है पूर्ण हुआ॥ ३९॥

इन्द्रिय, मानस और बुद्धि,
इसका है अधिष्ठान होता।
ढँक कर ज्ञान, शत्रु यह, देही
को बेसुध है कर देता॥ ४०॥

अतः प्रथम तुम निजेन्द्रियों को,
पूर्ण रूप संयमित करो।
फिर विज्ञान-ज्ञान के नाशक,
इस पापी का नाश करो॥ ४१॥

विषयों से इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं,
सूक्ष्म इन्द्रियों से मन है।
मन से भी है बुद्धि सूक्ष्म,
आत्मा पर सूक्ष्म बुद्धि से है॥ ४२॥

जान बुद्धि से आत्मा पर है,
आत्मा से मन विजय करो।
काम रूप इस दुर्जय अरि का,
महाबाहु ! संहार करो ॥ ४३ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्म विद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन संवाद का "कर्मयोग" नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय

(ज्ञान कर्म संन्यास योग)

अन्य क्षेत्रों की तरह अध्यात्म ज्ञान, योग के क्षेत्र में भी उत्थान-पतन का क्रम चलता है। युग के प्रभाव से पुरातन-सनातन योगधर्म भी लुप्तप्राय हो जाता है, बिलकुल विनष्ट नहीं हो सकता। योग-यज्ञ के कई प्रकार यहाँ वर्णित हैं—द्रव्य यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ आदि। ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। राजयोग के प्रमुख अंग प्राणायाम का भी वर्णन है। कर्म, अकर्म, विकर्म का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि काम एवं संकल्प से रहित होकर जो मनुष्य कर्म करता है उसके कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं। ऐसा कर्म-कर्त्ता ही वास्तविक ज्ञानी या पंडित है।

श्री भगवान बोले—

यही योग अविनाशी मैंने
विवस्वान को बतलाया।
विवस्वान ने मनु, मनु ने
इक्ष्वाकुराज को बतलाया ॥ १ ॥

परंपरा से प्राप्त योग
राजर्षिवृंद को ज्ञात हुआ।
किंतु परंतप ! बहुकालांतर
योग महत् यह नष्ट हुआ ॥ २ ॥

वही पुरातन योग आज
अर्जुन ! मैं तुझे सुनाता हूं।
तुझे जान कर भक्त, सखा
उत्तम रहस्य बतलाता हूं ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—

अभी हुआ है जन्म आपका
विवस्वान जन्मे पहले।
कैसे जानूँ योग पुरातन
कहा आपने ही पहले ॥ ४ ॥

श्री भगवान बोले—

मेरे और तुम्हारे अर्जुन !
जन्म अनेकों बीत चुके।
सभी ज्ञात हैं मुझे किंतु
तुम इनको अभी न जान सके ॥ ५ ॥

अज हूँ, सत हूँ, अव्यय आत्मा
भूत मात्र का ईश्वर हूँ।
फिर भी निज प्रकृति को वश कर
माया से अवतरता हूँ ॥ ६ ॥

जब जब होती ग्लानि धर्म की,
बढ़ जाता अधर्म भारत !
तब तब जन्म ग्रहण मैं करता
इसे समझ लो हे भारत ! ७ ॥

साधु जनों की रक्षा के हित
दुष्टों का करने संहार,
संस्थापित करने सुधर्म को
युग युग आता बारंबार ॥ ८ ॥

दिव्य जन्म का और कर्म का
जो रहस्य पा लेता है,
तजकर देह मुझे पाता है,
जन्म नहीं फिर पाता है ॥ ९ ॥

राग क्रोधभय रहित ध्यान धर
कर मेरा तर गए अनेक।
ज्ञान यज्ञ कर तपः पूत हो
मत्स्वरूप हो गए अनेक ॥ १० ॥

जिस प्रकार जो मुझको भजते
उस प्रकार फल पाते हैं।
सव प्रकार से सभी मनुज
मेरे पथ पर ही चलते हैं ॥ ११ ॥

कर्म फलों की चाह लिए
देवों की पूजा करते हैं,
मनुजलोक में शीघ्र पार्थ !
वे कर्मसिद्धि पा लेते हैं ॥ १२ ॥

गुणकर्मों के वल पर मैंने
चार वर्ण रचना की, मान।
यद्यपि मैं उसका कर्त्ता हूं
मुझे अकर्त्ता, अव्यय जान ॥ १३ ॥

मुझको कर्म नहीं छूते हैं,
कर्मफलों की चाह नहीं।
इस प्रकार जो मुझे जानते
कर्मों से वे बंधे नहीं ॥ १४ ॥

इसे जानकर पूर्वकाल में
मुमुक्षुओं ने कर्म किया।
कर अर्जुन वैसे ही जैसे
पूर्वजनों ने कर्म किया ॥ १५ ॥

कौन कर्म है, क्या अकर्म है,
ज्ञानी भ्रमित हुए कितने।
बतलाता हूँ कर्म, अशुभ से
छूटोगे जानो जितने ॥ १६ ॥

कर्म, विकर्म, अकर्म ज्ञेय हैं
इन्हें जान लो हे अर्जुन!
कर्मो की गति महागूढ़ है
इसको पहचानो अर्जुन ॥ १७ ॥

देखे कर्मों में अकर्म जो,
जो अकर्म में देखे कर्म.
वही पुरुष है बुद्धिमान, है
योगी, है सच्चा कृतकर्म ॥ १८ ॥

जिसके सारे कर्म काम, संकल्प
बिना ही होते हैं,
कर्म हुए ज्ञानाग्निदग्ध
उसको ही पंडित कहते हैं ॥ १९ ॥

कर्मों में तज फलासक्ति जो
नित्यतृप्त चिर रहता है,
कर्मों में नित रत रह कर भी
कर्म नहीं कुछ करता है ॥ २० ॥

चित्त संयमित कर, आशाएँ
तज, संग्रह सब छोड़ दिया,
केवल कर्म शरीर कर रहा
उसने कभी न पाप किया ॥ २१ ॥

यथालाभ संतुष्ट सदा जो
द्वन्द्वातीत विमत्सर है,
सिद्धि-असिद्धि समान देखता
करके कर्म न बंधता है ॥ २२ ॥

संगरहित ज्ञानावस्थित वह
मुक्त पुरुष अर्जुन ! होता।
करता जो यज्ञार्थ कर्म सब
कर्म विलय उसका होता ॥ २३ ॥

अर्पण ब्रह्म, ब्रह्म अग्नि, हवि
ब्रह्म स्वयं ही होता है,
ब्रह्मकर्म की इस समाधि से
ब्रह्म प्राप्त ही होता है ॥ २४ ॥

अपर यज्ञ से कितने योगी
देवों का पूजन करते।
कितने ब्रह्मरूप-अग्नि में
यज्ञ रूप हैं हवि देते ॥ २५ ॥

कितने योगी संयमाग्नि में
श्रोत्रेन्द्रिय हवन करते।
कितने शब्दरूप विषयों का
होम इन्द्रियों में करते ॥ २६ ॥

प्राणों और इन्द्रियों के
सारे कर्मों को ले कितने,
ज्ञानदीप्त योगाग्नि होम
संयम साधित करते कितने ॥ २७ ॥

कितने करते द्रव्ययज्ञ,
कितने तप, योगयज्ञ करते ।
कितने ही स्वाध्याय, ज्ञान के
यज्ञ, कठोरव्रती करते ॥ २८ ॥

प्राण होम करते अपान में,
प्राणों में अपान करते ।
प्राणायाम परायण नर हैं,
दोनों को निरुद्ध करते ॥ २९ ॥

अपर पुरुष नियताहारी,
प्राणों में प्राण होमते हैं।
सभी यज्ञविद निज पापों का,
नाश यज्ञ से करते हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्ट अमृत भोजन कर,
ब्रह्म सनातन पाते हैं।
यज्ञहीन इहलोक और
परलोक नसा ही पाते हैं ॥ ३१ ॥

ब्रह्ममुख से इस प्रकार,
बहुयज्ञों का विस्तार हुआ।
सभी यज्ञ कर्मों से होते,
इसे जान नर मुक्त हुआ ॥ ३२ ॥

द्रव्य-यज्ञ से निश्चय उत्तम,
ज्ञान यज्ञ होता अर्जुन !
अखिल कर्म साधित होकर के,
ज्ञान लीन होता अर्जुन ! ३३ ॥

इसे जान प्रणिपात, प्रश्न,
सेवा ज्ञानी की कर अर्जुन !
ज्ञानी और तत्त्वदर्शी नर,
तुझे ज्ञान देंगे अर्जुन ! ॥ ३४ ॥

इसे जान कर कभी न फिर,
तुम मोहग्रस्त होगे पांडव !
देखोगे तुम भूतमात्र को,
आत्मा में, मुझमें पांडव ॥ ३५ ॥

यदि तुम होगे सर्व पापियों
में सबसे बढ़कर पांडव !
ज्ञान रूप नौका पर चढ़कर,
पार करोगे तुम पांडव ! ॥ ३६ ॥

जैसे ज्वलित अग्नि ईंधन को,
भष्मसात कर देती है।
सब कर्मों को वैसे ही,
ज्ञानाग्नि भस्म कर देतीहै ॥ ३७ ॥

नहीं ज्ञान के सदृश यहाँ,
जग में पवित्र कुछ है अर्जुन !
योगसिद्ध परिपक्व काल में,
निज में पाता है अर्जुन ! ॥ ३८ ॥

श्रद्धायुत्, तत्पर, जितेन्द्रिय,
ज्ञान लाभ कर लेते हैं।
ज्ञान लाभ कर परा शांति पद,
शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३९ ॥

श्रद्धा रहित, अज्ञ, संशययुत,
नर विनष्ट हो जाते हैं।
शंकाकुल को कहीं न सुख है,
दोनों लोक नसाते हैं ॥ ४० ॥

हुआ योग से कर्मनाश औ'
हुआ ज्ञान से संशय नाश।
आत्मवंत नर ऐसा जो,
कर्मों का करता बंधन नाश ॥ ४१ ॥

संशय जो अज्ञान जनित,
कर ज्ञान खंग से नष्ट, उठो।
उठो योगनिष्ठा में रत हो,
युद्ध हेतु भारत ! उठो ॥ ४२ ॥

ॐ सत्सत्

इसप्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'ज्ञान कर्म संन्यास योग' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

पंचम अध्याय

(कर्म संन्यास योग)

अर्जुन संशयग्रस्त हैं। उन्हें दुविधा होती है—कर्मों का संपादन उचित है या कर्मों का त्याग। भगवान के वचनों में उन्हें विरोध दिखाई देता है। भगवान उन्हें पुनः समझाते हैं कि मनुष्य कर्म करता हुआ भी अकर्त्ता रह सकता है। दो तरह से—एक तो कर्मयोगी की तरह निष्काम कर्म करके, दूसरे आत्मा अकर्त्ता है, जो कुछ करती है, प्रकृति करती है, यह साक्षी भाव धारण करके। यह ज्ञान योग हैं। वास्तव में कर्मयोग और ज्ञान योग में कोई अन्तर नहीं है और दोनों का फल एक है। परन्तु ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग अधिक सुकर है, यह भगवान का कहना है।

अर्जुन बोले—

कभी कर्म संन्यास, कभी फिर
कर्मयोग हैं बतलाते,
इनमें जो हो श्रेय सुनिश्चित
एक नहीं क्यों बतलाते? १ ॥

श्री भगवान बोले—

दोनो निःश्रेयस देते हैं
कर्मयोग हो या संन्यास।
किंतु कर्म-संन्यास अपेक्षा
कर्मयोग बढ़कर अभ्यास॥ २ ॥

उसे जान लो तुम संन्यासी
जिसे द्वेष या राग नहीं।
महाबाहु! जो द्वन्द्वमुक्त है
बंधमुक्त है सहज वही॥ ३॥

सांख्य, योग हैं पृथक बताते
अज्ञ, नहीं जो पंडित हैं।
रहें एक में जो सुस्थिर हो
दोनों के फल पाते हैं॥ ४॥

जो पद देता सांख्य ज्ञान है
योग वही पद देता है।
सांख्य, योग को एक देखता
वही देखता सच्चा है॥ ५॥

बिना योग संन्यास कठिन है
बड़े दुःख से मिलता है।
योगयुक्त जो मुनि होता है
ब्रह्म शीघ्र पा लेता है॥ ६॥

योगयुक्त जो है विशुद्ध, जो
मनः वशी, इन्द्रियजित है,
जिसे आत्मवत् सर्वभूत है
कर्म अलिप्त वही नर है॥ ७॥

"नहीं तनिक मैं कुछ करता हूँ"
युक्त तत्त्वविद मान रहा—
जब देखा या सुना, छुआ,
खाया, घूमा या सूँघ रहा ॥ ८ ॥

सोते, श्वाँस क्रिया करते,
बोलते, छोड़ते या लेते,
आँख खोलते, आँख मूँदते,
कर्म इन्द्रियों के करते ॥ ९ ॥

जो करता यज्ञार्थ कर्म है,
फलासक्ति को तज देता,
पद्मपत्र ज्यों जल में रहता
उसे न पाप कभी छूता ॥ १० ॥

तन से, मन से और बुद्धि से
निजेन्द्रियों से करते हैं,
आत्मशुद्धिहित योगी जन
तज संग कर्म सब करते हैं ॥ ११ ॥

करके त्याग कर्मफल, योगी
परम शांति पा लेते हैं।
फल में रख आसक्ति अयोगी
कामयुक्त बंध जाते हैं ॥ १२ ॥

आत्मवशी सारे कर्मों को
तज मन से सुख पाते हैं,
नव द्वारों के पुर में रह कुछ
नहीं कराते करते हैं ॥ १३ ॥

नहीं कर्म, कर्तृत्व, कर्मफल
की रचना ईश्वर करते।
जो कुछ होते हैं प्रकृति में
सब स्वभावतः ही होते ॥ १४ ॥

कभी किसी के पाप पुण्य को
ईश्वर ग्रहण नहीं करते।
ढँक रखता अज्ञान ज्ञान को
मोहित जीव भ्रमित होते ॥ १५ ॥

आत्मज्ञान से जिस नर का
अज्ञान नष्ट हो जाता है,
सूर्य सदृश वह ज्ञान उसे
परमात्म तत्व दिखलाता है ॥ १६ ॥

परम तत्त्व में बुद्धि और मन
निष्ठापूर्वक लग जाते,
धुल जाते सब पाप ज्ञान से
मोक्ष वही नर पा लेते ॥ १७ ॥

विद्याविनययुक्त ब्राह्मण, गौ,
हाथी, श्वान और चांडाल,
जिनकी है समदृष्टि सभी में
सच्चे पँडित हैं सब काल ॥ १८ ॥

उसने जीत लिया जग को
जिसके मन ने समता पा ली,
सम, निर्दोष ब्रह्म है, उसमें
उसने निश्चित गति पा ली ॥ १९ ॥

नहीं कभी हर्षित प्रिय पाकर,
पाकर अप्रिय दुखी नहीं।
स्थिरबुद्धि ब्रह्मज्ञ पुरुष है
ब्रह्मप्राप्त गतमोह सही ॥ २० ॥

बाह्य सुखों में अनासक्त जो
परमानन्द प्राप्त करता,
ब्रह्मयोगयुक्तात्म पुरुष
अक्षय आनन्द वही पाता ॥ २१ ॥

जितने हैं ये विषय भोग
सब फल में दुख ही देते हैं,
क्षणभंगुर आद्यंतवंत
इनमें बुध कभी न रमते हैं ॥ २२ ॥

जो नर सहने में समर्थ
देहांतर के पहले तक है
काम क्रोध के प्रवल वेग को
वही सुखी है, योगी है ॥ २३ ॥

जिसने अंतर में सुख पाया
पाया है विश्राम, प्रकाश,
पाया है निर्वाण उसीने
ब्रह्मरूप अंतर आकाश ॥ २४ ॥

पाते हैं निर्वाण ब्रह्म ऋषि
जिनके पाप विनष्ट हुए,
शंकाएँ निर्मूल, आत्मजित
सर्वभूतहित मग्न हुए ॥ २५ ।

काम, क्रोध से रहित यती
जिसने मन जीता, शांत हुआ ।
आत्मज्ञान संपन्न पुरुष को
सभी ओर निर्वाण हुआ ॥ २६ ॥

बाहर के विषयों को बाहर
आँखों को कर भ्रू-अंतर,
प्राण अपान समान बना कर
वायु नासिका अभ्यंतर ॥ २७ ॥

वश में कर इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन
मुनि जो मोक्ष परायण है,
जो इच्छा, भय, क्रोध रहित है
मुक्त सदा ही वह नर है ॥ २८ ॥

सर्वलोक का ईश्वर हूँ मैं,
यज्ञ, तपस्या का भोक्ता,
सर्व प्राणियों का सुहृद मैं
मुझको जान शांति पाता ॥ २९ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्री मद्भगद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग शास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'कर्म संन्याम योग' नामक पंचम अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठम अध्याय

ध्यान योग

इस अध्याय को 'ध्यान योग' तथा 'आत्म संयम योग' दोनों नामों से अभिहित किया जाता है।

इसमें ध्यान योग का अभ्यास कैसे करना चाहिए इसे विधिपूर्वक बतलाया गया है। ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर, संयमित चित्त एवं निर्भय होकर मनुष्य ध्यानयोग की साधना में प्रवृत्त हो। जहाँ-जहाँ चंचल मन भागे वहाँ-वहाँ से उसे खींच लावे एवं स्वयं में लगा दे। विवेक बुद्धि द्वारा धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे मन को वश में करता चला जाय एवं आत्मा में मन को स्थित करके कुछ भी चिंतन न करे। इस प्रकार साधना करते-करते जब मनुष्य का चित्त स्थिर हो जाय एवं सारी कामनाओं से निस्पृह हो जाय तब वह योगी पद का अधिकारी होता है।

उस समय अपने आप का दर्शन कर के योगी परम तोष को, परम तृप्ति को, आत्यंतिक सुख को उपलब्ध होता है। यदि दुःख का पहाड़ भी उस पर टूट पड़े तो भी वह विचलित नहीं होता। संसार का कोई हानि-लाभ उसे हानि-लाभ नहीं मालूम पड़ता। उसके लिए दुखों के संयोग का वियोग चिरकाल के लिए सिद्ध हो जाता है।

श्री भगवान बोले—

किया करे कर्त्तव्य कर्म,
रक्खे मन फल की आश नहीं,
वही प्रकृत संन्यासी, योगी,
नहीं अक्रिय, निरग्नि नहीं ॥ १ ॥

कहें जिसे संन्यास उसे ही
योग जान लो हे पांडव !
संकल्पों से मुक्त नहीं जो
हुआ, नहीं योगी पांडव ॥ २ ॥

योग शिखर पर आरोहण का
एक कर्म ही साधन है।
योगारूढ़ हुए मुनियों का
एक शांति ही साधन है ॥ ३ ॥

विषयों में निज कर्मों में जब
राग, द्वेष मिट जाता है,
संकल्पों का त्यागी योगारूढ़
पुरुष कहलाता है ॥ ४ ॥

अपना खुद उद्धार करे
अपने को कभी न दे गिरने ।
अपना ही नर बंधु बने, वह
अपना कभी न शत्रु बने ॥ ५ ॥

अपने से अपने को जीता
आत्मबंधु सम वह नर है।
जिसने नहीं स्वय को जीता
वह तो अपना ही अरि है ॥ ६ ॥

शीत-उष्ण में सुख-दुख में
अपमान-मान की घड़ियों में,
आत्मविजेता शांत पुरुष
रखता समत्व चिर निज मन में ॥ ७ ॥

ज्ञान और विज्ञान तृप्त
कूटस्थ पुरुष इन्द्रियजयी,
मिट्टी, पत्थर, सोना सम जिसको,
योगी है आत्मजयी ॥ ८ ॥

सुहृद, मित्र, अरि, उदासीन,
मध्यस्थ, बंधु, द्वेषी में भी,
नर विशिष्ट पुरुषोत्तम
समदर्शी साधू, पापी में भी ॥ ९ ॥

आत्मयोग साधन करते हैं
निर्जन में योगी रहकर,
यतचित्तात्मा, एकाकी
वासना और संग्रह तज कर ॥ १० ॥

शुद्ध भूमि में कुश, मृगछाला,
पुनः वस्त्र ऊपर रख ले.
जो ऊँचा ना नीचा हो
निश्चल आसन अपना कर ले ॥ ११ ।

उस आसन पर बैठ इन्द्रिय,
मन संयत, एकाग्र करे।
आत्म शुद्धि के हेतु सतत
साधक नर योगाभ्यास करे ॥ १२ ॥

काया, सिर, ग्रीवा सम रक्खे
निश्चल निज तन को रक्खे।
अपने नासिकाग्र को देखे
अन्य दिशाएँ ना देखे ॥ १३ ॥

शांत चित्त निर्भय हो करके
ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर।
मन को कर संयमित, युक्त
हो आत्मचित्त, सुस्थिर, मत्पर ॥ १४ ॥

इस प्रकार संयत मन योगी
आत्म योग साधन करता,
परम शांति निर्वाण प्राप्तकर
मत्स्वरूप है हो जाता ॥ १५ ॥

अतिभोजी या उपवासी के
लिए योग की सिद्धि नहीं।
जो ज्यादा सोता जगता है
उसके खातिर योग नहीं ॥ १६ ॥

युक्ताहार विहारशील जो
युक्तचेष्ट सब कर्मों में,
योग दुःख-भंजन उसका
जो संयत सोने जगने में ॥ १७ ॥

नियत और संयमित चित्त
जब आत्मलीन हो जाता है,
सर्वकामना शून्य पुरुष
निस्पृह योगी बन जाता है ॥ १८ ॥

वायुशून्य गृह में जैसे है
दीपशिखा निश्चल रहती,
स्थिरचित्त योगी के मन की
वही दशा अविचल रहती ॥ १९ ॥

योगसाधना से निरुद्ध
उपराम चित्त हो जाता है।
अपने से अपना दर्शन कर
पूर्ण तोष हो जाता है ॥ २० ॥

बुद्धिग्राह्य जो आत्यंतिक सुख
अतीन्द्रिय है कहलाता,
उसे प्राप्त कर एक बार, फिर
कभी नहीं उसको खोता ॥ २१ ॥

जिसे प्राप्त कर लेने पर फिर
प्राप्य नहीं कुछ बच रहता,
जिसे प्राप्त कर लेने पर, दुख
का पहाड़ हलका लगता ॥ २२ ॥

वही योग है जो वियोग है
सर्वदुःख - संयोगों का ।
उसे साधना बड़े धैर्य से
निश्चित धर्म मानवों का ।। २३ ।।

संकल्पों से होनेवाली
सारी इच्छाएँ तज कर ।
निजेन्द्रियों को वश में कर ले
अपने मानस के बल पर ।। २४ ।।

धीरे धीरे धीर वुद्धि से
निज मन का उपराम करे ।
आत्मलीन मन को कर दे फिर
कुछ भी नहीं विचार करे ।। २५ ।।

जहाँ जहाँ चंचल मन भागे
वहाँ वहाँ से ले आवे ।
उसे नियम में रखकर योगी
अपने वश में कर लावे ।। २६ ।।

जिसका मन है शांत हुआ
योगी उत्तम सुख पाता है ।
ब्रह्मानंद तभी पाता है
शांत रजस हो जाता है ।। २७ ।।

आत्मयोग साधन नित करता
पाप रहित हो जाता है।

अनायास तब ब्रह्म प्राप्त कर
वह अनन्त सुख पाता है ॥ २८ ॥

सब भूतों में अपने को
अपने में ही सब भूतों को।

समदर्शी युक्तात्मा योगी
देखा करता है सबको ॥ २९ ॥

जो मुझको सर्वत्र देखता
सबको मुझमें देख रहा।

मैं उसको चिर देखा करता
वह मुझको चिर देख रहा ॥ ३० ॥

भूत मात्र में रहनेवाले
मुझको योगी भजता है।

चाहे जैसे वर्तन करता
मुझमें वर्तन करता है ॥ ३१ ॥

जो सर्वत्र समत्व बुद्धि से
आत्मोपम देखा करता,

सुख-दुख को जो तुल्य समझता
वह उत्तम योगी होता ॥ ३२ ॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! साम्ययोग जो
अभी आपने मुझे कहा,
चंचल मन होने के कारण
मुझे दीखता कठिन महा ॥ ३३ ॥

मन अति चंचल है, प्रमत्त है,
हठी बड़ा है, बली बड़ा।
इसका निग्रह वायु सदृश
है मेरे मत से बहुत कड़ा ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान बोले—

सच कहते हो महाबाहु !
मन दुर्निग्रह, अति चंचल है।
पर अभ्यास, विरक्ति, यत्न से
होता वशी, अचंचल है ॥ ३५ ॥

जिसका मन है सदा असंयत
योग साधना उसे कठिन।
आत्मवशी पर यत्नवान जो
उसके हित है नहीं कठिन ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले—

श्रद्धायुत पर मंदयत्न हो
योगभ्रष्ट हो जाता है,
योगसिद्धि से वंचित उसकी
केशव ! क्या गति होती है ? ॥ ३७ ॥

उभयभ्रष्ट क्या छिन्नमेघ सम
नष्ट नहीं वह हो जाता ?
ब्रह्ममार्ग में भटक फिसल कर
लुप्त नहीं क्या हो जाता ? ॥ ३८ ॥

कृष्ण ! हमारे इस संशय को
पूर्ण रूप से दूर करें ।
आप सरीखा नहीं अन्य
जो इस संशय को दूर करे ॥ ३९ ॥

श्री भगवान बोले :—

योगभ्रष्ट का नाश नहीं
इहलोक करो, परलोक कहो ।
जो करता कल्याण-कर्म है
दुर्गति उसकी नहीं अहो ॥ ४० ॥

पुण्यलोक में दीर्घकाल तक
अपना समय बिताता है ।
शुचि, श्रीमंत गृहों में फिर वह
नया जन्म पा जाता है ॥ ४१ ॥

अथवा लेता जन्म कहीं वह
सिद्ध योगियों के कुल में ।
इस प्रकार का जन्म महा
दुर्लभ समझो होता जग में ॥ ४२ ॥

पूर्वजन्म की बुद्धि प्राप्त कर
लेता है वह शीघ्र वहाँ।
और, योग की सिद्धि हेतु
करने लगता है यत्न महा ॥ ४३ ॥

पूर्वकाल के अभ्यासों से
अवश स्वयं है खिच जाता।
शब्द ब्रह्म का अतिक्रमण
जिज्ञासु योग का कर जाता ॥ ४४ ॥

अधिकाधिक प्रयत्न करने से
पापमुक्त हो जाता है।
इस प्रकार वह जन्मान्तर में
सिद्धि परागति पाता है ॥ ४५ ॥

तपस्वियों से बढ़कर योगी
योगी श्रेष्ठ ज्ञानियों से।
अर्जुन ! योगी बन, योगी है
बढ़कर कर्मकांडियों से ॥ ४६ ॥

श्रद्धायुत मन से जो मुझको
मद्गत होकर भजता है।
सभी योगियों में योगी वह
सर्वश्रेष्ठ, मत मेरा है ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का "ध्यान योग" नामक षष्ठम अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तम अध्याय

(ज्ञान-विज्ञान योग)

"सूत्रे मणिगणा इव" संसार भर में वह परमात्म तत्त्व व्याप्त है और संसार भी उसी में है, बल्कि ससार भी वही है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

माया से मोहित पुरुष उसे जानने का यत्न नहीं करते। हजार में कोई एकाध व्यक्ति सिद्धिहित यत्न करता है। प्रकृति या माया त्रिगुणात्मक है, दिव्य है। उससे लड़कर, संघर्ष कर मनुष्य पार नहीं पा सकता। परमात्मा की शरण लेना ही माया को तरने का एकमात्र उपाय है।

भक्त के चार स्वरूपों का, आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी का यहां वर्णन आया है। अनेक जन्मों के प्रयास, साधना एवं भक्ति के फलस्वरूप मनुष्य परम ज्ञान को उपलब्ध होता है :—

वहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
सर्वं वासुदेवमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

श्री भगवान बोले :-

मुझमें हो आसक्त, मदाश्रित,
योगयुक्त हो जानोगे।
संशयरहित पूर्णतः मुझको
सुनलो, कैसे जानोगे॥ १॥

ज्ञान और विज्ञान सहित
मैं भेद सकल हूँ वतलाता।
जिसे जानकर नहीं अन्य
ज्ञातव्य यहां कुछ बच जाता॥ २॥

नर सहस्र में कोई कोई
यत्न सिद्धिहित करते हैं।
यत्नवाना सिद्धों में कोई
कोई मुझको पाते हैं॥ ३ ॥

भूमि, जलाग्नि, वायु, नभ, मन हैं,
बुद्धि, अहं कुल आठ प्रकार,
मेरी ही प्रकृति के ये सब
भिन्न-भिन्न हैं आठ प्रकार॥ ४ ॥

यह अपरा प्रकृति है मेरी
परा अन्य है, हे अर्जुन!
जीव रूप है परा, वही
धारण करती जग को अर्जुन॥ ५ ॥

इन दोनों को जानो इनसे
सर्वभूत जग के उपजे।
मैं पूरे जग का कारण हूँ
सृष्टि प्रलय मुझसे उपजे॥ ६ ॥

मुझसे बढ़कर नहीं कहीं कुछ
सारे जग में है अर्जुन।
मुझमें ही सब ओतप्रोत हैं
सूत्र यथा मणि में अर्जुन॥ ७ ॥

जल में रस हूँ और प्रभा भी
सूर्य चंद्र में मैं ही हूँ।
प्रणव सभी वेदों में, नभ में शब्द,
पराक्रम नर में हूँ॥ ८॥

पृथ्वी में मैं पुण्य गंध हूँ,
तेज अग्नि में व्यापक हूँ।
जीवन हूँ मैं सर्वभूत में,
तपस्वियों में मैं तप हूँ॥ ९॥

पार्थ! सभी जीवों का मैं हूँ
बीज सनातन, मुझको जान।
तेजस्वी का तेज, बुद्धिमानों
की बुद्धि मुझे पहचान॥ १०॥

बलवानों का बल हूँ जिसमें
काम, राग का लेश नहीं।
काम सभी भूतों में मैं हूँ
जिसे धर्म से द्वेष नहीं॥ ११॥

सात्विक, राजस, तामस जितने
भाव जगत में हैं अर्जुन।
मुझसे हैं, मुझमें हैं पर मैं
इनमें कभी नहीं अर्जुन॥ १२॥

तीन गुणों के इन भावों से
मुग्ध हुआ जग सारा है।
इसीलिए मुझ अव्यय, अविनाशी
को जान न पाता है॥ १३॥

दिव्य गुणमयी मेरी माया
को तरना है अति दुस्तर।
किंतु शरण जो मेरी लेते
वे इसको जाते हैं तर॥ १४॥

पापी, मूढ़, नराधम जो हैं
मेरी शरण नहीं लेते।
माया से अपहृत-ज्ञान वे
आसुर भावयुक्त होते॥ १५॥

पुण्यवान जो मुझको भजते
नर वे चार तरह के हैं।
आर्त पुरुष, जिज्ञासु पुरुष,
अर्थार्थी हैं, सुज्ञानी हैं॥ १६॥

उनमें ज्ञानी नित्ययुक्त जो
एकनिष्ठ है, न्यारा है।
ज्ञानी को मैं अति प्यारा हूँ,
ज्ञानी मुझको प्यारा है॥ १७॥

यों तो सभी भक्त अच्छे हैं,
ज्ञानी आत्म-रूप मेरा।
सर्वोत्तम गति मुझे मानकर
वह आश्रय लेता मेरा ॥ १८ ॥

बहुजन्मों के अन्तराल पर
ज्ञानवान मुझको पाता।
सबकुछ है यह वासुदेव
दुर्लभ महात्मा है ज्ञाता ॥ १९ ॥

अपहृत-ज्ञान काम से होकर
अन्य देवता भजते हैं।
निज प्रकृति से प्रेरित होकर
भिन्न-भिन्न विधि भजते हैं ॥ २० ॥

जिस स्वरूप की श्रद्धापूर्वक
भक्ति चाहता करना नर।
उस स्वरूप में उसकी श्रद्धा
अचल और दृढ़ देता कर ॥ २१ ॥

उस स्वरूप का श्रद्धापूर्वक
वह आराधन करता है।
मेरे द्वारा विहित कामनाओं
का फल वह पाता है ॥ २२ ॥

अल्पबुद्धि उन भक्तों को
बस, क्षणभंगुर फल मिलता है।
देवभक्त देवों को, मेरा
भक्त मुझे ही पाता है ॥ २३ ॥

मुझ अव्यक्त को व्यक्ति सदृश
माना करते अबुद्ध नर हैं।
सूक्ष्म भाव अविनाशी अनुपम
ज्ञात नहीं उनको कुछ है ॥ २४ ॥

नहीं प्रकट मैं सबके हित हूँ,
छिपा योगमाया से मैं।
नहीं जानते मूढ़ लोग, मैं
अज हूँ, अव्यय, शाश्वत मैं ॥ २५ ॥

ज्ञात मुझे जो थे अतीत में,
विद्यमान जो हैं अर्जुन,
जो भविष्य में होंगे प्राणी,
पर अजान मैं हूँ अर्जुन ॥ २६ ॥

इच्छा द्वेष समुत्थित सुख-दुख
के द्वन्द्वों में फँसते हैं।
सभी जीव इस जग में भारत!
इनसे मोहित रहते हैं ॥ २७ ॥

पुण्यवान पुरुषों में जिनके
पाप नष्ट हो जाते हैं।
द्वन्द्वमोह से विनिर्मुक्त वे
दृढ़व्रती हो भजते हैं॥ २८॥

जरा मरण से मुक्तिहेतु
मेरा आश्रय ले भजते हैं।
पूर्ण ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म
का अखिल ज्ञान वे लहते हैं॥ २९॥

मुझे जानते साधिभूत जो
साधिदैव, अधियज्ञ सहित,
मृत्युकाल में मुझे जानते
योगीजन हैं मोह रहित ॥ ३० ॥

ॐ तत्सत्

इसप्रकार श्री मद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्री कृष्णार्जुन संवाद का "ज्ञान विज्ञान योग" नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टम अध्याय

(अक्षर ब्रह्म योग)

इस अध्याय में अक्षर ब्रह्म का विशद वर्णन है। साथ ही मृत्युकाल में मनुष्य किस प्रकार प्राण त्याग करके मोक्ष को उपलब्ध होता है इसकी विधि बतलाई गई है। जीवन भर साधनाभ्यास करने पर ही यह विधि आयत्त की जा सकती है इसीलिए भगवान का उपदेश है—

"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामिवेष्वैस्यसंशयम् ॥

सभी इन्द्रिय द्वारों को संयमित कर, मन को हृदय में निरुद्ध कर, ब्रह्मरंध्र में आत्मा का ध्यान करता हुआ एवं ॐ शब्द का उच्चारण करता हुआ जो प्राणों का त्याग करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है। यह शुक्लशति देनेवाला देवयान मार्ग है जो योगियों, भक्तों एवं ज्ञानियों को प्राप्त होता है। दूसरा कृष्ण गति प्रदान करनेवाला पितृमार्ग हे, अंधकार से भरा हुआ एवं पुनरावर्ती।

अर्जुन बोले—

ब्रह्म, कर्म, अध्यात्म, कहें,
किसको कहते हैं पुरुषोत्तम !
क्या है वह अधिभूत और
अधिदैब कहें यह पुरुषोत्तम ॥ १ ॥

कहते हैं अधियज्ञ किसे
है कौन देह में वह केशव ?
मृत्युकाल में आप किस तरह
पहचाने जाते केशव ? ॥ २ ॥

श्री भगवान बोले–

अक्षर है वह ब्रह्म परम,
कहते स्वभाव को हैं अध्यात्म।
भूतभाव का उद्भव करती
कर्म उसी सृष्टि का नाम।। ३ ।।

है अधिभूत नष्ट जो होता
जीव भावना है अधिदैव।
मैं अधियज्ञ स्वयं हूँ तन में
इसे समझ लो हे नरदेव ! ।। ४ ।।

अंतकाल में ध्यान मुझी में
रख कर जो तन तजता है।
इसमें है संदेह नहीं
मेरा स्वरूप वह लहता है ।। ५ ।।

जिस स्वरूप का ध्यान मनुज धर
अंतकाल तन तजता है।
जिस स्वरूप में लीन सदा वह
उस स्वरूप को लहता है ।। ६ ।।

इसीलिए तू सर्वकाल लड़
मुझे याद बस, करता ही।
अर्पित करके बुद्धि और मन
पायेगा बस, मुझको ही ।। ७ ।।

योगयुक्त अभ्यासी जन
एकाग्र चेतना करता है।
चिंतन करता हुआ दिव्य वह
परम पुरुष को पाता है॥ ८॥

जो सर्वज्ञ, पुरातन, शासक
सबका, अणु से सूक्ष्म, उसे।
सबका धारक, जो अचिंत्य,
आदित्यवर्ण, ऊपर तम से॥ ९॥

मृत्युकाल में शांत अचल मन
भक्तियुक्त जो है ध्याता।
प्राण मध्यभ्रू में सुस्थिर कर
दिव्य पुरुष को वह पाता॥ १०॥

अक्षर कहते वेदविद् जिसे
वीतराग जिसमें रहता,
ब्रह्मचर्यव्रत रखते जिसहित
वह पद तुझको हूँ कहता॥ ११॥

सर्वद्वार संयम में रख
करके निरुद्ध मनको हिय में।
मूर्धा में रख ध्यान आतम में,
प्राण योग से रख सिर में॥ १२॥

"ॐ" ब्रह्म एकाक्षर का जो
जप करता, चिंतन करता।
जो तजता है देह वही
आनंद, परमगति है पाता ॥ १३ ॥

जो अनन्यचेता नर मेरा
ध्यान निरंतर करता है।
उसको मैं हूँ सुलभ पार्थ !
वह नित्ययुक्त योगी नर है ॥ १४ ॥

मुझे प्राप्त कर पुनर्जन्म को
दुःखालय, क्षणभंगुर को,
पुनः नहीं पाते महात्मा,
परम सिद्धि पाते, मुझको ॥ १५ ॥

ब्रह्मलोक से लेकर के
पुनरावर्ती हैं लोक सभी।
मुझे प्राप्त करनेवाले का
पुनर्जन्म होता न कभी ॥ १६ ॥

ब्रह्मा का दिन युग सहस्त्र के
एक बरावर है होता।
वैसी ही होती है रजनी
अहोरात्रविद् हैं ज्ञाता ॥ १७ ॥

दिवारंभ में जीव सभी
अव्यक्त व्यक्त हो जाते हैं।।
जब होती है प्रलयरात्रि
अव्यक्त-लीन हो जाते हैं।। १८ ।।

जीवों का समूह होता है
लीन प्रलय के आने पर।
बरबस लेता जन्म पुनः वह
ब्रह्मा के दिन आने पर।। १९ ।।

इस अव्यक्त भाव से ऊँचा
है अव्यक्त सनातन भाव।
सर्वभूत के सर्वनाश पर
नहीं नष्ट होता वह भाव।। २० ।।

जो अव्यक्त और अक्षर है
उसे परम गति कहते हैं।
जिसे प्राप्त कर नहीं लौटता
परमधाम मेरा वह है।। २१ ।।

परम पुरुष वह प्राप्य पार्थ !
केवल अनन्य निष्ठा से है।
जिसके भीतर सभी जीव, वह
सभी जीव के भीतर है ।। २२ ।।

कौन काल वह जिसमें मर कर
योगी जन्म नहीं लेते
बतलाता हूँ पार्थ ! तुम्हें वह
काल, जन्म मर कर लेते ॥ २३ ॥

अग्नि, ज्योति हो, शुक्ल पक्ष हो,
उत्तर अयण, दिवा, षट मास ।
ऐसे समय मृत्यु को पा
करता ब्रह्मज्ञ ब्रह्म में वास ॥ २४ ॥

धूम्र, रात्रि में, कृष्ण पक्ष में
दक्षिण अयण, मास षट में ।
मरता योगी, चंद्रलोक जा
पुनः लौट आता जग में ॥ २५ ॥

शुक्ल कृष्ण ये दो गतियाँ
जग में शाश्वत मानी जातीं ।
मोक्ष एक से मिलता है
दूसरी जन्म कारण होती ॥ २६ ॥

इन दो गतियों का ज्ञाता
होता मोहित न कभी अर्जुन ।
इसीलिए तू सर्वकाल में
योगयुक्त ही रह अर्जुन ॥ २७ ॥

वेद, यज्ञ, तप, दान आदि से
प्राप्य पुण्यफल जितने हैं।
सबको जान, पार कर योगी
आदि परम पद पाते हैं ॥ २८ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन संवाद का "अक्षर ब्रह्मयोग" नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

नवम अध्याय

(राजविद्या राजगुह्य योग)

यह ब्रह्मविद्या राजविद्या है, अत्यंत गूढ़ है, परम पवित्र है, प्रत्यक्ष अनुभव करने योग्य है. सुखपूर्वक आचरणीय एवं अविनाशी है।

प्रकृति के दो भेद हैं। दैवी प्रकृति एवं आसुरी प्रकृति। महात्मा लोग दैवी प्रकृति का आश्रय लेते हैं जो उनको भगवानोन्मुख करती है, ज्ञान एवं मोक्ष दिलाती है। दूसरी, आसुरी प्रकृति है जिसका आश्रय मूढ़ एवं अज्ञानीजन लेते हैं। फलासक्ति रख कर यज्ञादि कर्म करनेवाले कर्मकांडी अधिक से अधिक देवलोक, स्वर्ग को प्राप्त करते हैं एवं पुनः क्षीण पुण्य होकर मर्त्य लोक में लौट आते हैं। इस प्रकार आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं।

श्री भगवान बोले --

द्वेषरहित तू पार्थ ! तुझे मैं
गुह्यज्ञान हूँ बतलाता।
जान जिसे विज्ञान सहित नर
अशुभमुक्त है हो जाता ॥ १ ॥

राजगुह्य, पावन उत्तम यह
विद्याओं में राजा है।
अनुभव में प्रत्यक्ष, धर्म्य है,
सुकर और अविनाशी है ॥ २ ॥

श्रद्धा नहीं परतंप ! जिसकी
है इस धर्म भावना में ।
मुझे न पाकर, मृत्युयुक्त
भ्रमता पड़कर भवबधन में ॥ ३ ॥

मुझ अव्यक्तमूर्ति से अर्जुन !
व्याप्त जगत यह सारा है ।
मै उनमें हूँ नहीं मगर, ये
सर्वभूत मुझमें ही हैं ॥ ४ ॥

फिर भी मुझमें नहीं जीव,
ऐश्वर्ययोग मेरा देखो ।
पालक, सष्टा उनका, फिर भी
उनमें बसा नहीं देखो ॥ ५ ॥

जैसे नभ में व्याप्त वायु है
गमनशील सर्वत्र महान ।
वैसे ही जग के सब प्राणी
विद्यमान हैं मुझमें, जान ॥ ६ ॥

सर्वभूत कल्पांत काल
मेरी प्रकृति में लय पाते ।
पुनः कल्प के आदिकाल में
मुझसे ही रचना पाते ॥ ७ ॥

निज प्रकृति को वश में करके
पुनः पुनः मैं रचता हूँ ।
जो रहते प्रकृति वश उन
जीवों की रचना करता हूँ ॥ ८ ॥

मुझे न ये सब कर्म कभी
बंधनकारी होते अर्जुन !
उदासीन मैं अनासक्त सब
कर्मों में रहता अर्जुन ! ॥ ९ ॥

मेरी आज्ञा से प्रकृति
रचना करती सचराचर की ।
इसी हेतु हे कौन्तेय ! भव
की चलती रहती चक्की ॥ १० ॥

मानव तन में मुझे देख नर
मूढ़ अवज्ञा करते हैं ।
भूतमात्र का मैं ईश्वर हूँ
मुझको नहीं समझते हैं ॥ ११ ॥

आशा, कर्म, ज्ञान जितने हैं,
सभी व्यर्थ मूढ़ों के हैं ।
जो प्रकृति राक्षसी आसुरी
से मोहित हो रहते हैं ॥ १२ ॥

जो महात्मा हैं, दैवी
प्रकृति का आश्रय लेते हैं।
ज्ञान आदि अव्यय मुझको वे
एकनिष्ठ हो भजते हैं ॥ १३ ॥

यत्नवान हो दृढ़व्रती वे
करते हैं सदैव कीर्तन।
नमस्कार करते सभक्ति हैं,
करते हैं नित आराधन ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञ से कितने करते
मेरा यजन और पूजन।
द्वैतभाव, अद्वैत भाव,
बहुभाव किया करते पूजन ॥ १५ ॥

हूँ संकल्प, यज्ञ हूँ अर्जुन !
स्वधा और औषध हूँ मैं।
मंत्र और मैं आहुति हूँ, मैं
अग्नि और हुत भी हूँ मैं ॥ १६ ॥

पिता जगत का हूँ मैं, माता,
धाता और पितामह हूँ।
वेद्य पवित्र ओम मैं ही हूँ
ऋक हूँ, साम, यजुः भी हूँ ॥ १७ ॥

गति, पोषक, प्रभु, साक्षी हूँ मैं
शरण, सुहृद, निवास मैं हूँ।
प्रभव, प्रलय, स्थिति, निधान हूँ
अव्यय बीज सनातन हूँ ॥ १८ ॥

तप्त जगत को करता,
करता वर्षण और अवर्षण मैं।
अमृत और मृत्यु भी मैं हूँ,
सत् हूँ और असत् हूँ मैं ॥ १९ ॥

यज्ञपूत त्रैविद्य सोम पी
स्वर्ग कामना करते हैं।
पुण्यलोक देवेन्द्रलोक जा
दिव्य भोग वे पाते हैं ॥ २० ॥

भोग विशाल स्वर्ग सुख फिर
वे क्षीणपुण्य वापस आते।
कर्मकांड में उलझ सकामी
जन्म-मरण बंधन पाते ॥ २१ ॥

जो अनन्यचिंतन कर मेरा
भजन सदा करता रहता।
योगक्षेम ऐसे भक्तों का
वहन सदा मैं ही करता ॥ २२ ॥

अन्य देवताओं का पूजन
जो श्रद्धा से हैं करते।
वे भी मुझे पूजते, समझो
भले अविधि पूजा करते ॥ ३ ॥

सारे यज्ञों का भोक्ता, स्वामी
मैं, नहीं जानते हैं।
मुझे तत्त्वतः नहीं जानते
नर वे नीचे गिरते हैं ॥ २४ ॥

देवव्रती देवों को पाते,
पितृव्रती जो, पितरों को।
भूतों के पूजक भूतों को,
मुझे पूज पाते मुझको ॥ २५ ॥

पत्र, पुष्प, फल, जल मुझको जो
करता है सभक्ति अर्पण।
यत्नवान भक्तों से अर्पित
करता मैं उनका सेवन ॥ २६ ॥

जो कुछ करो, पियो, खाओ तुम,
यज्ञ करो या दान करो।
जो कुछ करो तपस्या अर्जुन !
मुझे समर्पण किया करो ॥ २७ ॥

अशुभ और शुभ फल देनेवाले
कर्मों से छूटोगे ।
योगयुक्त, संन्यासयुक्त, हो
मुक्त मुझे ही पाओगे ॥ २८ ॥

मेरे हित प्राणी सब सम हैं
मुझे द्वेष या प्रेम नहीं ।
भजते हैं सभक्ति मुझको जो
मुझ में वे, मैं सदा वहीं ॥ २९ ॥

विकट दुष्ट यदि एकनिष्ठ
बनता, मुझको भजनेवाला ।
उसे मानना साधु पुरुष
वह है शुभ संकल्पोंवाला ॥ ३० ॥

होता धर्मात्मा जल्दी ही
शांति चिरंतन है पाता ।
कौन्तेय, निश्चय मेरे
भक्तों का नाश नहीं होता ॥ ३१ ॥

मेरा आश्रय लेनेवाले
पापयोनि भी हों चाहे ।
सभी परमगति पाते हैं
हों वैश्य, शूद्र, नारी चाहे ॥ ३२ ॥

फिर क्या बात ब्राह्मणों की,
राजर्षि पुण्यजन भक्तों की !
इस अनित्य दुखमय जग में
आकर मुझको भजते उनकी ॥ ३३ ॥

मुझमें मन कर, भक्ति, यज्ञ कर,
मुझको नमस्कार कर तू ।
मुझमें लग कर, मत्पर हो कर,
मुझको ही पायेगा तू ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन संवाद का "राजविद्या राजगुह्य योग" नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ।

दसम अध्याय

(विभूति योग)

'विभूति योग' नाम से ही स्पष्ट, भगवान की विभूतियों का दिग्दर्शन इस अध्याय में कराया गया है। भगवान की विभूतियाँ अनन्त हैं। दृष्टांत रूप में ही उनकी विभूतियां बतलाई जा सकती हैं। अतः अंत में भगवान को कहना पड़ा—

"सारे जग को एक अंश से
धारण मैं करता अर्जुन॥"

श्री भगवान बोले—

महाबाहु ! फिर कहता हूँ मैं,
मेरा परम वचन सुन लो।
तुम हो मेरे प्रिय, तुम्हारे
हित का कहता हूँ गुन लो॥ १॥

नहीं जानते हैं महर्षि या
देव जन्म मेरा कैसे।
मैं हूँ उनका आदि सर्वशः
जान मुझे सकते कैसे ?॥ २॥

जो अज और अनादि जानता,
मुझे जानता लोकेश्वर,
वह ज्ञानी है, मर्त्यलोक में
सब पापों से मुक्त, सुनर ॥ ३ ॥

बुद्धि, ज्ञान, संमोहहीनता,
क्षमा, सत्य, दम, शम ये भाव,
सुख, दुख, जन्म, मृत्यु भय, निर्भय
होते जितने भाव-विभाव ॥ ४ ॥

समता, तुष्टि, दान, तप, यश या
अयश, अहिंसा जितने भाव,
मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं
भिन्न भिन्न जीवों के भाव ॥ ५ ॥

सप्त महर्षि, चार सनकादिक
हुए पूर्व में, फिर मनुगण,
मेरे संकल्पों से जन्मे
उनसे जन्मी प्रजा विभिन्न ॥ ६ ॥

मेरी इस विभूति के बल से
जो यथार्थ अवगत होता,
निस्संदेह वही पाता है
अविचल योग वही पाता ॥ ७ ॥

सबका मैं हूँ मूल उत्स
मुझसे सारा जग चलता है।
इसे जान कर ज्ञानी मुझको
भाव-भक्ति से भजता है ॥ ८ ॥

मुझमें चित्त, प्राण अर्पित कर
बोध परस्पर हैं करते।
करते कीर्तन, भजन, तुष्ट हो
मुझमें नित्य रमण करते ॥ ९ ॥

इस प्रकार मुझमें तन्मय रह
जो सप्रीति भजन करते।
बुद्धियोग देता मैं उनको
जिससे मुझको पा लेते ॥ १० ॥

उन पर अनुकंपा करके
अज्ञान रूप जो तम होता।
आत्वभाव के ज्ञान-दीप से
मैं विनाश हूँ कर देता ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले —

परम ब्रह्म हैं, परम धाम हैं
हैं प्रभु आप पवित्र परम।
पुरुष चिरंतन, दिव्य, आदि, अज,
विभु हैं भगवन ! आप परम ॥ १२ ॥

सब ऋषियों ने यही कहा
देवर्षि राज ने कहा स्वयं ।
देवल, असित, व्यास भी बोले
कहते जैसा आप स्वयं ॥ १३ ॥

उन सबको मैं सत्य मानता
जो कुछ कहते हैं केशव !
है स्वरूप अज्ञेय आपका
देव दानवों से केशव ! ॥ १४ ॥

स्वयं जानते हैं अपने को
आप सदा हे पुरुषोत्तम !
देवदेव ! भूतेश ! भूतभावन !
जगदीश्वर ! पुरुषोत्तम ! ॥ १५ ॥

है विभूतियाँ दिव्य आपकी
वे मुझसे कहिए केशव !
जिन विभूतियों से लोकों में
व्याप्त आप रहते केशव ॥ १६ ॥

हे योगिन ! पहचानूँ कैसे
सदा आपका चिंतन कर ?
किन-किन रूपों में भगवन ! हैं
ध्यान योग्य, कहिए प्रभुवर ॥ १७ ॥

कहें सविस्तर आत्म-योग
अपनी विभूति फिर गरिमामय।
तृप्ति नहीं होती सुनसुनकर
वचन आपका अमृतमय॥ १८॥

श्री भगवान बोले–

दिव्य मुख्य अपनी विभूतियाँ
फिर मैं कहता हूँ, सुन लो।
अंत नहीं मेरी बिभूति का
है विस्तीर्ण महा, सुन लो॥ १९॥

मैं आत्मा हूँ, सब जीवों के
हृदयमध्य रहता अर्जुन।
आदि, मध्य मैं ही जीवों का
और अंत मैं ही अर्जुन॥ २०॥

आदित्यों में विष्णु और
ज्योतिष्मानों में मैं रविकर।
मरुतों में मैं हूँ मरीचि, हूँ
पार्थ ! नक्षत्रों में हिमकर॥ २१॥

वेदों में हूँ सामवेद,
देवों में देवराज हूँ मैं।
मन हूँ सभी इन्द्रियों में
चेतना प्राणियों में हूँ मैं॥ २२॥

रुद्रों में शंकर हूँ, यक्ष
राक्षसों में कुवेर मैं ही।
वसुओं में पावक हूँ, पर्वत
शिखरों में सुमेरु मैं ही ॥ २३ ॥

पुरोहितों में पार्थ! मुझे
समझो मैं मुख्य वृहस्पति हूँ।
सेनापतियों में कार्तिक हूँ,
सरोवरों में सागर हूँ ॥ २४ ॥

महर्षियों में भृगु हूँ मैं ही,
वाणी में एकाक्षर हूँ।
यज्ञों में जपयज्ञ, पर्वतों
में हिमराज हिमालय हूँ ॥ २५ ॥

सब वृक्षों में पीपल हूँ,
देवर्षिगणों में नारद हूँ।
हूँ गंधर्व चित्ररथ मैं ही,
कपिल स्वयं सिद्धों में हूँ ॥ २६ ॥

अमृत से उत्पन्न हुआ मैं
उच्चैः श्रवा तुरंगों में।
हूँ गजेन्द्र मैं ही ऐरावत,
राजा हूँ मैं मनुजों में ॥ २७ ॥

हथियारों में वज्र और
गायों में कामधेनु मैं ही।
स्रजकों में मैं कामदेव,
सर्पों में वासुकि हूँ मैं ही ॥ २८ ॥

नागों में मैं शेषनाग,
जलदेवों में हूँ वरुण स्वयं।
पितरों में अर्यमा, दंड-
धारियों बीच यमराज स्वयं ॥ २९ ॥

दैत्यों में प्रहलाद और
गणकों में मैं हूँ काल स्वयं।
पशुओं में हूँ सिंह और
पक्षियों बीच हूँ गरुड़ स्वयं ॥ ३० ॥

पावन में हूँ पवन, शस्त्र-
धारियों बीच हूँ राम स्वयं।
मीनों में हूँ मकर और
नद-नदियों में जाह्नवी स्वयं ॥ ३१ ॥

आदि सृष्टि का, अंत सृष्टि का,
मध्य सृष्टि का मैं अर्जुन।
हूँ अध्यात्म सभी ज्ञानों में,
वाद विवादों में अर्जुन ! ॥ ३२ ॥

मैं अकार सब वर्णों में हूँ,
द्वन्द्व समासों में मैं हूँ
काल स्वयं अविनाशी, अक्षय
धाता स्वयं विश्वमुख हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वनाशिनी मृत्यु स्वयं ,हूँ
मैं भविष्य का उद्‌भव हूँ।
क्षमा, कीर्ति, मेधा, धृति, स्मृति,
श्री, वाणी नारी में हूँ ॥ ३४ ॥

सामों में हूँ वृहत् साम,
गायत्री छंदों में हूँ मैं।
मासों में हूँ मार्गशीर्ष मैं,
ऋतुओं में कुसुमाकर मैं ॥ ३५ ॥

छलछंदों में द्यूत, तेज
तेजस्वी पुरुषों में मैं ही।
जय हूँ, निश्चय और सत्त्व
सात्विक पुरुषों में हूँ मैं ही ॥ ३६ ॥

वृष्णिवंश में वासुदेव हूँ
पांडव बीच धनंजय हूँ,
मुनियों में हूँ व्यास और
कवियों में उशना कवि मैं हूँ ॥ ३७ ॥

दण्ड दण्डदेनेवालों में,
नीति नित्य विजयार्थी में।

मौन गुह्य तथ्यों में मैं हूँ,
ज्ञान सदा हूँ ज्ञानी में ।। ३८ ।।

सब भूतों का बीज एक
बस, मुझे समझ लो हे अर्जुन !

जड़ चेतन जो कुछ है जग में
मेरे विना नहीं अर्जुन ! ।। ३९ ।।

नहीं अंत है कहीं दिव्य
मेरी विभूतियों का अर्जुन !

इतना विस्तृत बतलाया
दृष्टांत रूप में ही अर्जुन ! ।। ४० ।।

जहाँ कहीं देखो विभूति, श्री,
तेज, सत्त्व मंडित अर्जुन !

समझो मेरे तेज अंश से
समुद्भूत वह है अर्जुन ! ।। ४१ ।।

अथवा इतने बहुलज्ञान से
क्या लेना तुझको अर्जुन !

सारे जग को एक अंश से
धारण मैं करता अर्जुन ! ।। ४२ ।।

ॐ सत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'विभूति योग' नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ।

एकादश अध्याय

(विश्वरूपदर्शन योग)

भगवान के विराट, दिव्य विश्वरूप दर्शन का सुयोग अर्जुन को प्राप्त हुआ है। साधना की ऊँची अवस्था में, अन्तर्मुख, दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर ही इस प्रकार के दर्शन साधकों को होते हैं।

अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व, विकराल एवं सौम्य अनेक प्रकार के रूपों, आकृतियों के दर्शन होते हैं जिनके प्रतिक्रियास्वरूप घबराहट, रोमांच एवं कम्पन होता है और साधक भयभीत, विनम्र भाव से वाष्पाकुल, गद्-गद् कंठ से विराट रूप परमेश्वर का स्तवन करने लगता है।

भगवान की दिव्य वाणी —

"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" सुनकर अर्जुन का कर्त्ताभाव, अहंकार भाव विगलित हो जाता है। सब कुछ तो पूर्वनिर्दिष्ट है, निश्चित होने-वाला है फिर मैं कर्त्ता कैसे ?

अर्जुन बोले–

परमगूढ़ अध्यात्मज्ञान कर
कृपा आपने मुझे कहा।
सुन कर वचन आपका, मेरा
मोहभंग हो गया, अहा ! ॥ १ ॥

सुना आपसे सृजन-नाश
भूतों का सब विस्तार सहित।
सुना दिव्य माहात्म्य आपका
कमलनयन ! विस्तार सहित ॥ २ ॥

जैसा निज को कहते हैं,
वैसे ही हैं सच, परमेश्वर !
फिर भी इच्छा है, देखूँ
ईश्वरी रूप तव परमेश्वर ॥ ३ ॥

यदि मानें संभव, मैं
उसके दर्शन कर सकता प्रभुवर !
रूप आप अव्यय अपना
दिखला देवें हे योगेश्वर ॥ ४ ॥

श्री भगवान बोले—

देखो ! देखो ! रूप पार्थ !
मेरे ये शतसहस्र देखो।
नाना विधि, वर्णों, आकृतियों
के ये दिव्य रूप देखो ॥ ५ ॥

आदित्यों, वसुओं, रुद्रों,
अश्विनी कुमारों, मरुतों को,
जिन्हें न देखा कभी उन्हें
देखा अनेक आश्चर्यों को ॥ ६ ॥

यहां सभी एकत्र देख लो
पूर्ण जगत, जड़, चेतन आज।
जो कुछ और देखना चाहो
इस शरीर में देखो आज ॥ ७ ॥

अपने चर्मचक्षुओं से
तुम नहीं देख सकते, देखो।
देता हूँ मैं दिव्यचक्षु
तुम ऐश्वर योग आज देखो ।। ८ ।

संजय बोले—

राजन ! तभी महायोगेश्वर
हरि ने ऐसा कह कर के।
पार्थ धनुर्धर को दिखलाया
ऐश्वर रूप परम धर के ।। ९ ।।

वह अनेक मुख नयनों वाला,
वह अनेक अद्‌भुत दर्शन।
वह अनेक दिव्याभूषणयुक्त,
दिव्यायुधवाला दर्शन ।। १० ।।

दिव्य माल्य, बस्त्रों से सज्जित,
दिव्य गंध से अनुलेपित।
सब प्रकार आश्चर्ययुक्त था
रूप अनन्त विश्वव्यापित ।। ११ ।।

सूर्य सहस्त्रों एक संग यदि
नभ में उग प्रकाश कर लें।
तो भी नहीं कदाचित संभव
देव-तेज तुलना कर लें ।। १२ ।।

एक साथ संपूर्ण जगत को
जो विभक्त था विविध प्रकार।
देखा पांडव ने उस क्षण में
देव-देव के देहांतर ॥ १३ ॥

होकर विस्मित, मुग्ध और
रोमांचित देह धनंजय ने
कर प्रणाम, नतशिर, अंजलिकृत,
कहा देव से यों उसने ॥ १४ ॥

देव ! देखता तव तन में
देवों, बहुभूत समूहों को।
कमलासन ब्रह्मा, ऋषियों को
और दिव्य सब सर्पों को ॥ १५ ॥

बाहु, उदर, मुख, नेत्र अनेकों,
रूप अनेकों सर्वेश्वर !
अंत, मध्य या आदि नहीं है,
विश्व रूप तुम विश्वेश्वर ॥ १६ ॥

चक्र, किरीट, गदाधारी,
तुम तेजपुंज दीपित सब ओर।
हे दुर्दर्श ! देखता तुमको
सूर्यानल ज्यों महाइंजोर ॥ १७ ॥

तुम हो परम ज्ञेय, अक्षर हो,
सकल विश्व आधार तुम्हीं।
तुम्हीं धर्म के चिर संरक्षक,
मान्य सनातन पुरुष तुम्हीं ॥ १८ ॥

तुम अनादिमध्यांत, बाहुअगणित
हैं, नेत्र सूर्य-शशि तेज ।
तुम्हें देखता दीप्त अग्नि मुख,
तप्त विश्व करते निज तेज ॥ १९ ॥

भू से नभ तक एक अकेले
दिगदिगंत में व्याप्त तुम्हीं।
अद्भुत उग्र रूप दर्शन से
थर्राते त्रैलोक्य तुम्हीं ॥ २० ॥

देव समूह समाते तुममें,
जोड़े हैं कर डर कितने ।
सिद्ध, महर्षि-संघ स्वस्ति कह
करते संस्तुति हैं कितने ॥ २१ ॥

रुद्रादित्य, साध्य, वसु, विश्वे,
मरुत, पितर, अश्विनीकुमार।
यक्ष, असुर, गंधर्व, सिद्ध सब
विस्मित लखते बारंबार ॥ २२ ॥

आनन, नेत्र, बाहु, उरु, पद
जिसमें अनेक वह रूप विशाल।
हैं बहु उदर, कराल दाढ़,
सब देख अधीर, विकल, बेहाल ॥ २३ ॥

नभस्पर्शी, दीप्त वर्ण बहु,
खुले नेत्र, मुख दीप्त विशाल।
विष्णु ! देख कर मन घबड़ाता,
शांति, धैर्य है हुआ मुहाल ॥ २४ ॥

प्रलय काल के अनल सदृश
विकराल दाढ़वाला मुख देख,
होता दिग्भ्रम, शांति न मिलती,
हों प्रसन्न कंपित जग देख ॥ २५ ॥

सभी नृपों के संघ सहित
धृतराष्ट्र पुत्र कौरव सारे।
भीष्म, द्रोण, वे कर्ण, प्रमुख
अपने दल के योद्धा सारे ॥ २६ ॥

तीव्र वेग विकराल भयानक
तव मुख में दौड़े जाते।
दाँतों में कितनों के अँटके
शीश विचूर्ण चूर्ण होते ॥ २७ ॥

नदियों की सवेग धाराएँ
ज्यों समुद्र दौड़ी जातीं,
वैसे ही नायक प्रवीर—
मंडली ज्वलित मुख में जाती ॥ २८ ॥

ज्वलित ज्वाल में ज्यों पतंग
दौड़े विनाश हित पड़ते हैं।
वैसे ही नाशार्थ दौड़
मुख में प्रवेश सब करते हैं ॥ २९ ॥

चाट रहे हैं निगल निगल कर
सकल लोक जलते मुख से।
विष्णु! आपका उग्र तेज
जगभर करता तापित तप से ॥ ३० ॥

उग्र रूप हैं कौन आप?
मुझपर प्रसन्न हों, कहें मुझे।
आदिपुरुष ज्ञानेच्छुक हूँ मैं
तव प्रवृत्ति अज्ञात मुझे ॥ ३१ ॥

श्री भगवान बोले—

लोकनास करनेवाला मैं,
काल नाश करनेवाला।
तू न लड़े तो भी शूरो में
एक नहीं बचनेवाला ॥ ३२ ॥

अतः खड़ा हो, कीर्ति प्राप्त कर,
जीत शत्रु, कर भोग स्वराज।
मार इन्हें पहले रक्खा है,
मात्र निमित्त बने तू आज ॥ ३३ ॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ वीरों को
कर्ण आदि योद्धाओं को।
मार चुका हूँ, मार, न डर, लड़,
रण में जीत शत्रुओं को ॥ ३४ ॥

संजय बोले–

सुन कर वचन कृष्ण के अर्जुन
हाथ जोड़ बोले कँप कर।
बारबार कर नमस्कार, डर
कर, गदगद प्रणाम कर कर ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले–

हृषीकेश ! कीर्तन कर तव
अनुरक्त जगत हर्षित होता।
भीत भागते हैं राक्षस,
सिद्धों का दल प्रणाम करता ॥ ३६ ॥

नमस्कार कैसे न करें वे
ब्रह्मा से बढ़कर हैं आप।
हे अनंत ! देवेश ! सत्, असत्
अक्षर से भी पर हैं आप ॥ ३७ ॥

आदिदेव ! हे पुरुष पुरातन !
आप विश्व के परम निधान।
ज्ञाता, ज्ञेय सुधाम परम हैं,
हे अनन्त ! जगव्याप्त सुजान ॥ ३८ ॥

वायु, अग्नि, यम, वरुण, चंद्र हैं,
आप प्रजापति, प्रपितामह।
नमो नमस्ते शत सहस्त्र
फिर नमो नमस्ते नमोनमः ॥ ३९ ॥

नमस्कार आगे पीछे से
नमस्कार सब दिशियों से।
हे अनन्त विक्रम सुवीर्य !
हैं जगधारक सब दिशियों से ॥ ४० ॥

मित्र जानकर कहा आपको
कृष्ण, सखा, यादव मैंने।
नहीं जानकर तव महिमा
की भूल, प्रमाद, प्रणय मैंने ॥ ४१ ॥

असत्कार हो गया हास में,
खेल, शयन में, भोजन में।
क्षमा करें अच्युत ! केशव !
जो हुआ अकेले, सम्मुख में ॥ ४२ ॥

पिता आप सचराचर जग के,
पूज्य, श्रेष्ठ, गुरु सबके आप।
तुल्य न कोई, बड़ा कहाँ से ?
तीन लोक में अतुलित आप ॥ ४३ ॥

करता हूँ साष्टांग दंडवत
हों प्रसन्न मुझपर प्रभुवर !
सहें मुझे ज्यों पितापुत्र,
ज्यो मित्र सुमित्र, प्रिया प्रियवर ॥ ४४ ॥

रूप अपूर्व देख हर्षित हूँ
फिर भी मन भय से आकुल।
पूर्व रूप अपना दिखलावें
हों प्रसन्न रक्षक जग कुल ॥ ४५ ॥

गदा, मुकुट हो, चक्र हाथ में
देखूँ पूर्व रूप हे ईश !
रूप चर्तुभुज धारण कर लें
हे सहस्त्रभुज ! हे जगदीश ॥ ४६ ॥

श्रीभगवान बोले—

हो प्रसन्न मैंने दिखलाया
आत्मयोग से रूप परम।
अब तक देखा नहीं किसी ने
विश्वरूप वह तेज परम ॥ ४७ ॥

वेदों के अध्ययन, यज्ञ से,
दान, क्रियाओं से, तप से,
तुम्हें छोड़ देखा न किसी ने
मेरा रूप किसी विधि से ॥ ४८ ॥

मत घबरा तू, मत विमूढ़ हो
देख भयंकर मेरा रूप।
अभय, शांत हो और देख तू
पहलेवाला परिमित रूप ॥ ४९ ॥

संजय बोले—

वासुदेव ने ऐसा कह कर
पूर्व रूप फिर दिखलाया।
आश्वासित कर दिया भीत को,
सौम्य रूप फिर दिखलाया ॥ ५० ॥

अर्जुन बोले—

मानुष रूप आपका केशव !
सौम्य रूप हूँ देख रहा।
अब सचेत प्रकृतिस्थ हुआ हूँ
शांति मिली है मुझे अहा ॥ ५१ ॥

श्री भगवान बोले :—

मेरा जो स्वरूप देखा है
उसके दर्शन दुर्लभ हैं।
उसके दर्शन करने को नित
देव तरसते रहते हैं ॥ ५२ ॥

नहीं वेद से, नहीं तपस्या,
दान आदि वहुयज्ञों से,
शक्य नहीं दर्शन हैं ऐसे
तुझे हुए अर्जुन जैसे ॥ ५३ ॥

जो अनन्य मेरे सुभक्त हैं
वे समर्थ केवल अर्जुन !
ऐसे दर्शन, ज्ञान, तत्व से
करने में प्रवेश अर्जुन ॥ ५४ ॥

जो मत्कर्म, असंग और
मत्पर, नर है सुभक्त पांडव !
जो निर्वैर सभी प्राणी प्रति,
वही मुझे पाता पांडव ॥ ५५ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का "विश्वरूपदर्शन योग" नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादश अध्याय

(भक्ति योग)

द्वादश अध्याय २० श्लोकों का छोटा अध्याय है। व्यक्त और अव्यक्त 'निर्गुण और सगुण, निराकार और साकार—ये दो भेद ब्रह्म के, परम सत्ता के हैं। सगुण की अपेक्षा निर्गुण की उपासना अधिक क्लेशकर है, दुखसाध्य है, ऐसा गीताकार का कहना है।

फिर भी, अंतिम लक्ष्य तो निर्गुण, पूर्ण ब्रह्म की उपलब्धि ही है जहाँ उपास्य और उपासक दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। जहाँ "बूंद समानी समुंद में, सो कित हेरी जाय" वाली अवस्था हो जाती है। जहाँ ज्ञाता ज्ञान एवं ज्ञेय, ध्याता ध्यान एवं ध्येय, द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य—इनकी त्रिपुटी ही समाप्त हो जाती है और एक अखंड अद्वेद्य, अभेद्य, अचिंत्य और अद्वैत आत्मा-ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। "कबिरा जो था सोई रहा, अब कछु कहा न जाय।"

अभ्यास करते-करते ज्ञान उपलब्ध होता है। ज्ञान उपलब्ध होने पर ध्यान सिद्ध हो जाता है। ध्यान द्वारा फल त्याग स्वयंसिद्ध हो जाता है एवं फल की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। परिणामतः साधक को अपना परम शांति-स्वरूप प्राप्त हो जाता है एवं "सिमहि सिमटि जल भरहिं तलाबा" की भाँति साधक में भक्त के बतलाए गए सारे लक्षण आ उपस्थित होते हैं।

अर्जुन बोले—

भक्त आपके सतत युक्त यों
जो उपासना करते हैं,
जो अक्षर, अव्यक्त की करते
कौन श्रेष्ठ योगी नर हैं? ॥ १ ॥

श्री भगवान बोले—

मुझमें मन दे नित्ययुक्त जो
श्रद्धापूर्वक भजते हैं,
सभी योगियों में, मेरा मत,
सर्वश्रेष्ठ वे योगी हैं ॥ २ ॥

अनिर्देश्य अक्षर, अव्यक्त की,
तत्त्व अचिंत्य अचल, ध्रुव की,
जो उपासना करते हैं
कूटस्थ सर्वव्यापी प्रभु की ॥ ३ ॥

निजेन्द्रियों को वश में कर
सर्वत्र समत्वयुक्त होकर,
सर्वभूतहित रत होकर वे
मुझको ही पाते हैं नर ॥ ४ ॥

उनको होता क्लेश अधिक
अव्यक्त तत्त्व में जो रत हैं।
बड़े कष्ट से ही अव्यक्त की
देहवान गति पाते हैं ॥ ५ ॥

मत्पर हो सारे कर्मों को
मुझमें अर्पण करते हैं।
करके ध्यान अनन्ययोग से
जो उपासना करते हैं ॥ ६ ॥

उनका सत्वर मैं करता
उद्धार मृत्युभवसागर से,
मुझमें समाविष्ट मन करते
उन्हें पार करता झट से ॥ ७ ॥

मुझमें मन तू लगा और
मुझमें ही बुद्धि लगा अर्जुन !
मुझको प्राप्त करेगा निश्चय
निस्संदेह जान अर्जुन ॥ ८ ॥

यदि तू अपना चित्त न मुझ में
स्थिर कर सकता अर्जुन !
तब तू कर अभ्यास योग से
पाने की इच्छा अर्जुन ॥ ९ ॥

यदि अशक्य अभ्यास योग भी
कर सब कर्म मुझे अर्पण,
करके कर्म मदर्थ सिद्धि तू
निश्चय पावेगा अर्जुन ॥ १० ॥

यदि तू कर्म मदर्थ नहीं
कर सकता है अशक्त अर्जुन,
हो यतात्म तब सब कर्मों का
फल त्याग ही कर अर्जुन । ११ ॥

ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यास योग से,
ध्यान श्रेष्ठ उससे भी है।
फल त्याग है श्रेष्ठ ध्यान से,
सत्वर शांति त्याग से है ॥ १२ ॥

द्वेषरहित, जो सर्वमित्र
सब भूतों पर करुणा रखता,
ममता और अहंता-वर्जित
सुख-दुख में है सम रहता ॥ १३ ॥

जो संतुष्ट सदा योगी है
है यतात्म, दृढ़निश्चय है,
अर्पित मुझमें बुद्धि और मन,
ऐसा भक्त मुझे प्रिय है ॥ १४ ॥

जिससे सब उद्वेग रहित,
उद्वेग रहित जो सबसे है,
हर्ष, अमर्ष, भयादि मुक्त जो
ऐसा भक्त मुझे प्रिय है ॥ १५ ॥

इच्छारहित, पवित्र, दक्ष जो,
चिंताहीन, उदासी है,
सर्वारंभपरित्यागी जो
ऐसा भक्त मुझे प्रिय है ॥ १६ ॥

हर्ष नहीं है, द्वेष नहीं है
सोच न इच्छा कुछ भी है,
करता है जो त्याग शुभाशुभ
ऐसा भक्त मुझे प्रिय है ॥ १७ ॥

शत्रु, मित्र हैं सम जिसको
अपमान, मान सम जिसको हैं,
शीत, उष्ण, सुख-दुख सम जिसको
जो नर संग-विवर्जित है ॥ १८ ॥

सम निन्दा-स्तुति में, मौनी,
यथालाभ संतोषी है,
जो अगेह है, शांतचित्त है
ऐसा भक्त मुझे प्रिय है ॥ १९ ॥

जो यथोक्त धर्म्यामृत का
सेवन सभक्ति चिर करता है,
श्रद्धापूर्वक मत्पर होकर
अतिशय भक्त मुझे प्रिय है ॥ २० ॥

ॐ तत्सत्

इसप्रकार श्री मद्‌भगवद्‌गीता रूपी उपनिषद में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्री कृष्णार्जुन संवाद का "भक्ति योग" नामक द्वादश अध्याय समाप्त हुआ।

त्रयोदश अध्याय

(क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग)

शरीर और शरीरी, देह और देही, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों अलग-अलग हैं। क्षेत्र जड़ है, क्षेत्रज्ञ चेतन। सभी शरीरों में एक ही चैतन्य समाविष्ट है। "एऽको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः"। जैसे एक ही सूर्य समस्त विश्व को आलोकित करता है वैसे ही एक ही आत्मा सारे क्षेत्रों को प्रकाशित करता है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। जो ज्ञान का अधिकारी है उसके लक्षण बतलाए गए हैं।

सबसे बढ़कर इस अध्याय में परमात्मा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन आया है जो कि वेदों के पुरुष सूक्त से मिलता जुलता है

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥" अदि ।

ऐसे परात्पर ब्रह्म को कोई ध्यान द्वारा, कोई ज्ञान द्वारा एवं कितने कर्म मार्ग द्वारा उपलब्ध होते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इन तीन मार्गों से अनभिज्ञ, परमात्मा के संबंध में श्रवण कर, श्रद्धालु होकर उसकी उपासना करने हैं। वे लोग भी मृत्यु को पार कर जाते हैं एवं अव्यय, अविनाशी पद प्राप्त कर लेते हैं।

श्री भगवान बोले :-

क्षेत्र नाम से यह शरीर
जग में जाना जाता अर्जुन !
इसे जाननेवाले को क्षेत्रज्ञ
सुधी कहते अर्जुन ॥ १ ॥

सब क्षेत्रों में मुझे एक
क्षेत्रज्ञ जान लो हे भारत !
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान ही
तत्त्वज्ञान है हे भारत ॥ २ ॥

क्या है क्षेत्र और है कैसा
हैं विकार कैसे, सो सुन।
उसमें है क्षेत्रज्ञ कौन
है क्या प्रभाव, थोड़े में सुन ॥ ३ ॥

विविध पृथक छंदों गीतों में
ऋषियों ने बहु गाया है।
ब्रह्मसूत्र के वाक्यों में
दृष्टांतों से समझाया है ॥ ४ ॥

महाभूत सब, अहंकार,
अव्यक्त, बुद्धि इनको गिन लो,
दशेन्द्रियाँ सब और एक मन,
विषय पांच उनको गुन लो ॥ ५ ॥

इच्छा, द्वेष, चेतना, सुख, दुख,
धृति, संघात, इन्हें सुन लो,
इन्हें क्षेत्र कहते समासतः
जो विकार सह हैं, सुन लो ॥ ६ ॥

अमानित्व, अहिंसा, आर्जव,
अदंभित्व, क्षान्ति अर्जुन !
सेवा निज आचार्य, शौच,
स्थैर्य, आत्मसंयम अर्जुन ॥ ७ ॥

अहंकाररराहित्य और
वैराग्य इन्द्रिय विषयों में,
जन्ममृत्यु में, जरा व्याधि में
दुख का दर्शन दोषों में ।। ८ ।।

मोहहीनता, अनासक्ति निज
पुत्र, कलत्र, गृहादिक में,
नित्य चित्तस्थिरता, समता
सुख-दुख के मिल जाने में ।। ९ ।।

मुझमें भक्ति अनन्यभाव की
एकनिष्ठ निश्चल मन से,
प्रेम सदा एकांतवास से,
सदा विरति जनसंगति से ।। १० ।

बोध सदा अध्यात्मज्ञान का,
तत्त्वज्ञान का नित दर्शन,
इनको कहते ज्ञान और
विपरीत इन्हीं के है अज्ञान ।। ११ ।।

क्या है ज्ञेय कहूँगा तुझसे
जिसे जान अमृत पाते ।
वह अनादि है, परम ब्रह्म है
सत् या असत् नहीं कहते ।। १२ ।।

पाणि, पाद सर्वत्र और
मुख, शीश, नेत्र उसके सब ओर।
सबको छाये घेरे है वह
श्रोत्र-इन्द्रिय है सब ओर ॥ १३ ॥

सर्व इन्द्रियों के गुण उसमें,
सर्व इन्द्रियों से वह हीन।
वह अलिप्त धारक है सबका
गुणभोक्ता फिर भी गुण हीन ॥ १४ ॥

बाहर भीतर है भूतों के,
वह है अचर, वही है चर।
अविज्ञेय है क्योंकि सूक्ष्म है,
वह समीप है, वही सुदूर ॥ १५ ॥

भूतों में वह अविभक्त है
पर विभक्त ज्यों स्थित है।
वही ज्ञेय, भूतों का पालक,
नाशक और सृजक वह है ॥ १६ ॥

वही ज्योति है सर्वज्योति की,
अंधकार से है वह पर।
ज्ञान, ज्ञेय है, ज्ञानगम्य है,
हृदय मध्य सबके स्थिर ॥ १७ ॥

क्षेत्र, ज्ञान औ' ज्ञेय अभी
थोड़े में मैंने बतलाया,
इसे जान मेरे भक्तों ने
मत्स्वरूप को प्राप्त किया ॥ १८ ॥

प्रकृति पुरुष दोनों अनादि हैं
इसे जानलो हे अर्जुन !
जो विकार हैं, जितने गुण हैं
सब प्रकृति से हैं अर्जुन ॥ १९ ॥

हेतु कार्य कारण का बस,
केवल प्रकृति कहलाती है।
सुख दुख के भोगों में लेकिन
हेतु पुरुष कहलाता है ॥ २० ॥

प्रकृतिमुग्ध नर भोगा करता
प्रकृति-जात गुण जितने हैं।
कारण है गुणसंग, असत् सत्
विविध योनि नर भ्रमते हैं ॥ २१ ॥

साक्षी, अनुमंता, भर्त्ता जो
भोक्ता और महेश्वर है,
परमात्मा कहलानेवाला
परमपुरुष इस तन में है ॥ २२ ॥

इस प्रकार जो पुरुष, प्रकृति
को गुण के संग जान जाता।
सब प्रकार वह कर्म निरत
रह कर भी नहीं जन्म पाता ॥ २३ ॥

ध्यानयोग द्वारा करते हैं
स्वयं आत्मदर्शन कितने।
सांख्ययोग द्वारा कितने ही
कर्मयोग द्वारा कितने ॥ २४ ॥

जो अनभिज्ञ दूसरों के मुख
सुन उपासना करते हैं,
मृत्युधार को वे भी तरते
जो ऐसे श्रद्धायुत हैं ॥ २५ ॥

चर या अचर जीव जितने भी
जग में हैं उत्पन्न हुए,
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ योग से
हैं केवल उत्पन्न हुए ॥ २६ ॥

सभी प्राणियों में परमेश्वर
विद्यमान है एक समान।
नाशवान में अविनाशी को
जो देखे वह पूर्ण महान ॥ २७ ॥

जो सर्वत्र समान भाव से
स्थित ईश का द्रष्टा है,
आत्मघात वह कभी न करता
और परम पद पाता है ॥ २८ ॥

कर्म किया करती प्रकृति ही
सब प्रकार जो लखता है।
आत्मा सदा अकर्त्ता लखता
वही सत्य का द्रष्टा है ॥ २९ ॥

पृथक पृथक भूतों को भी
एकस्थ देख जो पाता है,
है विस्तार विश्वभर उसका
जान, ब्रह्म नर पाता है ॥ ३० ॥

वह अनादि है, वह निर्गुण है,
परमात्मा बह अव्यय है।
इस कारण इस तन में रह कर
नित्य, अलिप्त, अकर्त्ता है ॥ ३१ ॥

सर्वव्याप्त आकाश सूक्ष्म अति
लिप्त नहीं ज्यों होता है
वैसे ही सब देह अवस्थित
आत्मा लिप्त न होता है ॥ ३२ ॥

एक सूर्य जैसे सारे जग
को आलोकित करता है,
वैसे क्षेत्री एक ब्रह्म
सब क्षेत्र प्रकाशित करता है ॥ ३३ ।

ज्ञानचक्षु से क्षेत्र और
क्षेत्रज्ञ भेद जो लख लेते,
भूत, प्रकृति, मोक्ष ज्ञाता
वे परम ब्रह्म हैं पा लेते ॥ ३४ ॥

ऊँ तत्सत्

इस प्रकार श्री मद्भगद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग शास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'क्षेत्रज्ञ विभाग योग' नामक त्रयोदश अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्दश अध्याय

(गुणत्रय विभाग योग)

प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण— प्रकृति के इन तीनों गुणों में सभी प्राणी बंधे हुए हैं तथा गुणो से प्रेरित होकर सारे कर्म किया करते हैं पर अज्ञानवश अपने को कर्त्ता मानते हैं। इन गुणों के बंधन से मुक्त होना ही मुक्ति है। जीव ही दशा राहुग्रस्त चन्द्रमा की भाँति है। मोक्ष होने पर राहुमुक्त पूर्ण चन्द्र की तरह वह चमकने लगता है, कृतार्थ एवं वीतशोक हो जाता है : "एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः"।

सतोगुण भी बंधनकारी है पर शुभ, सुखदायी बंधन है, ज्ञान का बंधन है, अंतिम बंधन है। इससे छूटकर जीव पूर्ण मुक्त हो जाता है। रजोगुण "लोभ, प्रवृत्ति, अशांति, वासना" में बांधता है तथा तमोगुण अज्ञान, आलस्य एवं प्रमाद में।

इन तीन गुणों को पार करनेवाला पुरुष ब्रह्मरूप ही होता है। ऐसे त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण इस अध्याय में बतलाए गए हैं जो चिरस्मरणीय एवं आचरणीय हैं।

श्री भगवान बोले —

फिर कहता हूँ मैं तुझसे वह
ज्ञानों में सर्वोत्तम ज्ञान,
जिसे जानकर सब मुनियों ने
गति पाई है, सिद्धि महान ॥ १ ॥

परम ज्ञान का आश्रय ले
मेरा स्वरूप जो पा लेते,
सृष्टिकाल में जन्म न लेते
नहीं प्रलय-मुख में पड़ते ॥ २ ॥

महद् ब्रह्म या प्रकृति योनि है,
गर्भ उसी में मैं धरता,
प्राणिमात्र का उद्‌भव उससे
हे भारत ! होता रहता ॥ ३ ॥

सभी योनियों में जिन जिन
जीवों का जन्म हुआ करता,
महद् ब्रह्म उनकी माता है
मैं ही पिता बीजदाता ॥ ४ ॥

सत्व, रजस् औ' तमस्
तीन गुण— ये प्रकृति से होते हैं।
अव्यय देही को तन के
बंधन में ये ही धरते हैं ॥ ५ ॥

इनमें निर्मल होने से वह
सत्व प्रकाश अनामय हैं,
सुख के संग, ज्ञान के संग
देही को अनघ बाँधता है ॥ ६ ॥

राग रूप है सुनो, रजोगुण
तृष्णा, आसक्ति देता,
कर्मराशि के बंधन में
देही को बाँध सदा रखता ॥ ७ ॥

है अज्ञानोत्पन्न तमोगुण
सबको मोहित करता है,
निद्रालस्य प्रमाद जाल में
सबको बाँधे रखता है॥ ८॥

सत्व सुखों का, रजः कर्म का
भारत! संग कराता है।
तमस् ज्ञान को ढँक प्रमाद का
संग सदैव कराता है॥ ९॥

रजस् तमस् के दबने से
सत्गुण ऊपर आ जाता है।
सत्व तमस् दब रजस,
रजस सत् दब तम ऊपर आता है॥ १०॥

इस शरीर के सब द्वारों में
जब प्रकाश हो जाता है
ज्ञान शक्ति से, तभी जानना
पूर्ण सतोगुण आया है॥ ११॥

लोभ, प्रवृत्ति, अशांति, वासना
का जब उदय हुआ जानो,
बढ़ा रजोगुण, प्रबल हुआ है,
हे भारत! ऐसा मानो॥ १२॥

जब अज्ञान, प्रवृत्तिहीनता,
मोह, प्रमाद हुआ जानो।
बढ़ा तमोगुण, प्रबल हुआ है,
हे कुरुनंदन! यह मानो॥ १३॥

वृद्धि सतोगुण की होने पर
जब कोई नर मरता है,
तो उत्तम विद्वानों के वह
लोक सुनिर्मल लहता है॥ १४॥

रजोवृद्धि में मरने पर नर
कर्मासक्त जन्मता है।
तमोवृद्धि में मृत्यु ग्रहण कर
मूढ़ योनि में पलता है॥ १५॥

जो करता सत्कर्म सदा
सात्विक निर्मल फल पाता है।
राजस का फल दुख होता,
अज्ञान तमस् का होता है॥ १६॥

होता ज्ञान सतोगुण से,
होता है लोभ रजोगुण से।
होता है उत्पन्न मोह,
अज्ञान, प्रमाद तमोगुण से॥ १७।

सात्विक ऊँचे चढ़ते हैं,
राजस रहते मध्यांतर में।
जो जघन्य गुण तामस के
आश्रित हैं गिरते नीचे में॥ १८॥

गुण को छोड़ न कर्त्ता कोई
जो द्रष्टा लख लेता है,
गुण के परे जान कर मुझको
मद्स्वरूप हो जाता है॥ १९॥

देह समुद्भवकारी जो इन
तीन गुणों को तरता है।
जन्म-मृत्यु-दुख से विमुक्त हो
अमृतत्व वह लहता है॥ २०॥

अर्जुन बोले—

जो इन तीन गुणों को तरता
प्रभु! उसके लक्षण क्या हैं?
कैसा है आचार, गुणों को
किस प्रकार नर तरता है?॥ २१॥

श्री भगवान बोले—

हो आलोक, प्रवृत्ति, मोह हो,
किंचित द्वेष न करता है।
न होने पर वह प्रवृत्ति की
कभी न इच्छा रखता है॥ २२॥

उदासीन-सा रह कर गुण से
कभी न विचलित होता है,
गुण का सारा कार्य समझकर
अविचल, सुस्थिर रहता है ॥ २३ ॥

सुखदुख में सम, स्वस्थ सदा ही
मिट्टी, कंचन, पत्थर सम,
तुल्य प्रियाप्रिय संस्तुति-निन्दा
धैर्यवान रहता हरदम ॥ २४ ॥

मान और अपमान तुल्य, जो
तुल्य मित्र अरि जान रहा।
सर्वारंभ परित्यागी जो
गुणातीत है पुरुष अहा ! ॥ २५ ॥

एकनिष्ठ हो भक्तियोग
द्वारा मुझको जो सेता है।
तीन गुणों को पार पुरुष कर
ब्रह्म रूप ही होता है ॥ २६ ॥

ब्रह्म प्रतिष्ठित मैं हूँ, मैं हूँ
अव्यय अमृत मैं ही हूँ।
धर्म सनातन शाश्वत मै हूँ,
मैं ही ऐकान्तिक सुख हूँ ॥ २७ ॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्‌भगवद् गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन संवाद का "गुणत्रयविभाग योग" नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ।

पंचदश अध्याय

(पुरुषोत्तम योग)

यह अनन्त-विस्तृत जगत है कि एक विचित्र विशाल अश्वत्थ वृक्ष है जिसका मूल ऊपर की ओर है तथा शाखाएँ ऊपर-नीचे, सर्वत्र, त्रिलोकभर में फैली हुई हैं। इसकी जटाएँ निकल कर नीचे मनुष्य लोक को गई हैं। तीन गुणों के प्रभाव से इसमें नित्य नई कोपलें निकलती हैं। यह वृक्ष अव्यय है, अविनाशी है, तीनों कालों में कभी नष्ट नहीं होता।

पर यथार्थतः यह अनन्त-विस्तृत वृक्ष अस्तित्वहीन है, मिथ्या है, अरूप है। मा या अर्थात जो नहीं है। इसका आदि ही नहीं है तो अंत कहाँ से होगा ? फिर भी क्या आश्चर्य ! यह दृष्टिगत हो रहा है, पाषाण की तरह ठोस, हमें चारों ओर से घेरे हुए है, कारागार बना हुआ है।

ऐसे इस वृक्ष को हम कैसे उखाड़ फेकें ? एक ही युक्ति है, असंग, अनासक्त होकर ही हम इसे काट सकते हैं, उड़ा सकते हैं। और, वह अनासक्ति, असंगता आती है आदि पुरुष परमात्मा की शरण लेने से, उसका सतत स्मरण एवं ध्यान करने से ! वह पुरुषोत्तम हमसे तनिक भी पृथक भी तो नहीं है।

श्री भगवान बोले—

उर्ध्वमूल, शाखाएँ नीचे,
अविनाशी अश्वत्थ महान,
वेद-छंद जिसके पत्ते हैं
जो जाने वेदज्ञ महान ॥ १ ॥

अधः उर्ध्व शाखाएँ फैलीं
गुणवर्द्धित कोपलवाली,
जड़ें गई हैं मनुज लोक में
कर्मबंध करनेवाली ॥ २ ॥

है अरूप, आद्यंत हीन,
फिर भी देखो ! है दीख रहा।
उस दृढ़मूल वृक्ष को काटे,
करे असंग प्रहार महा ॥ ३ ॥

खोजे उस पद को जिसको पा
मृत्यु-जन्म मिट जाता है।
आदि पुरुष की शरण गहे
जिससे फैली सब माया है ॥ ४ ॥

मानमोहजित, संगकामजित,
आत्मलीन जो होता है,
सुखदुखद्वन्द्व-विमुक्त सुधी नर
अव्यय पद को पाता है ॥ ५ ॥

सूर्य न उद्भासित करता है,
नहीं चन्द्रमा, अग्नि, प्रकाश,
जा कर जहाँ न कोई लौटा
दिव्य धाम मम परमाकाश ॥ ६ ॥

मेरा अंश सनातन बनता
जीवलोक में जीव अहा !
रह प्रकृति में पंच इन्द्रियों,
मन को अहरह खींच रहा ॥ ७ ॥

जीव रूप ईश्वर जब तन को
धारण करता, तजता है,
वायु गंध ज्यों मनेन्द्रियों को
संग साथ ले चलता है ॥ ८ ॥

श्रोत्र, चक्षु, रसना, नासा का,
मनस त्वचा का ले आधार
विषयों का सेवन करता है
जीव निरंतर बारंबार ॥ ९ ॥

मरते, जीवित रहते अथवा
गुण के संग भोग करते,
नहीं देखते मूढ़ पुरुष हैं
ज्ञानचक्षु देखा करते ॥ १० ॥

यत्नवान योगीजन यह
आत्मस्थ ईश देखा करते,
मूढ़, अशुद्ध, प्रयत्नशील पर
कभी नहीं देखा करते ॥ ११ ॥

अखिल जगत उद्भासित कर्त्ता
तेज सूर्य में मेरा है।
जो है तेज चंद्रमा में,
पावक में जानो मेरा है ॥ १२ ॥

पृथ्वी में प्रवेश कर मैं
सब भूतों को धारण करता।
सोम रसात्मक होकर मैं
ओषधियों का पोषण करता॥ १३॥

मैं वैश्वानर बनकर तन में
जीव मात्र के रहता हूँ।
प्राण अपान वायु से मिल कर
चारो अन्न पचाता हूँ॥ १४॥

सर्व हृदय में सन्निविष्ट हूँ,
ज्ञान, स्मृति सब मुझ से ही।
वेदवेद्य वेदज्ञ और वेदांत-
सृजक भी हूँ मैं ही॥ १५॥

दो प्रकार के पुरुष जगत में
क्षर, अक्षर कहलाते हैं।
भूत मात्र को क्षर जानो
अक्षर कूटस्थ कहाते है॥ १६॥

पुरुषोत्तम है अन्य पुरुष
जो परमात्मा कहलाता है,
वह त्रिलोक का पोषक है,
अव्यय, ईश्वर कहलाता है॥ १७॥

मैं हूँ क्षर से परे और
अक्षर से भी पर, उत्तम हूँ।
इसीलिए वेदों, लोकों में
सुविख्यात पुरुषोत्तम हूँ ॥ १८ ॥

इस प्रकार जो मोहरहित
मुझको पुरुषोत्तम जान रहा।
वही जानता है सब कुछ,
भजता मुझको, पहचान रहा ॥ १९ ॥

हे निष्पाप! कहा है मैंने
जो निगूढ़ है शास्त्र महान।
इसे जान, बन बुद्धिमान,
हो कृतकृत्य, नर बने महान ॥ २० ॥

ॐ सत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'पुरुषोत्तम योग' नामक पंचदश अध्याय समाप्त हुआ।

षोड़श अध्याय

(दैवासुरसंपद विभाग योग)

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस अध्याय में दैवी संपद एवं आसुरी संपद का पृथक-पृथक वर्णन किया गया है। दैवी सम्पदा में २६ गुण आए हैं जिनमें अभय का सर्वप्रथम स्थान है। वास्तव में अभय सर्वथा स्पृहणीय गुण है। जिसने अभय पद को प्राप्त कर लिया वह मुक्त हो गया। सर्वथा निष्पाप व्यक्ति ही अभय हो सकता है।

यों एक गुण धारण करने से मनुष्य में अन्य सारे गुण स्वतः आ जाते हैं। दैवी सम्पदा मोक्षदायिनी है। इसके विपरीत आसुरी वन्धनकारिणी, शोक-दुख-मृत्युदायिनी।

आसुरी सम्पदा सम्पन्न मनुष्य का वर्णन वड़ा सटीक हुआ है जो भौतिक सभ्यताभिमानी वर्तमान युग के सर्वथा अनुरूप लगता है।

श्री भगवान बोले—

अभय, चित्तकी शुद्धि, ज्ञान में
और योग में निष्ठा है।
दान, यज्ञ है, दम है, तप है,
है स्वाध्याय, सरलता है॥१॥

सत्य, अहिंसा, त्याग, शांति है,
है अक्रोध, अपैशुन है।
भूतदया, लोलुप्त्वहीनता,
मार्दव, ह्री, अचपलता है॥२॥

तेज, क्षमा, धृति, शौच, द्रोह—
हीनता, नातिमानिता हैं।
जो दैवी संपद ले जन्मा
उसके ये सारे गुण हैं ।।३।।

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध,
अज्ञान, परुषता होते हैं।
जो आसुरी संपदा ले
जन्मा उसके गुण होते हैं ।।४।।

दैवी संपद मोक्षदायिनी
बंधन हेतु आसुरी है।
शोक न कर तू पांडव
लेकर दैवी संपद जन्मा है ।।५।।

दो प्रकार की सृष्टि लोक में
दैवी और आसुरी है।
दैवी का विस्तृत वर्णन
सुन चुका आसुरी सुनना है ।।६।।

क्या प्रवृत्ति है, क्या निवृत्ति है,
असुरों को है ज्ञान नहीं।
शौच और आचार आदि का
उन्हें सत्य का भान नहीं ।।७।।

कहते मिथ्या निराधार जग,
ईश्वर का अस्तित्व नहीं।
नर मादा से बंधा हुआ जग,
विषय छोड़ कुछ हेतु नहीं ॥८॥

ऐसी दृष्टि दुष्ट जन लेकर
उग्र कर्म करनेवाले।
होते हैं उत्पन्न मूढ़ वे
जग का क्षय करनेवाले ॥९॥

लेकर के दुष्पूर कामना
दंभमानमद-अंध बने।
दुःसंकल्पपूर्ति में लगते
मोहदुराग्रहघनी बने ॥१०॥

पाल अपरिमित चिंता मन में
प्रलय पर्यंत लीन रहते।
कामभोग है परम ध्येय,
जीवन का यह निश्चय रखते ॥ ११॥

आशा के शत शत बंधन में,
काम क्रोध के फँदे में
फंस कर विषय हेतु लगते हैं
न्याय रहित धन सँचय में ॥१२॥

आज लब्ध यह किया, मनोरथ
वह कल पूरा कर लूँगा
इतना धन मौजूद, पुनः
इतना कल अर्जन कर लूँगा ॥१३॥

इस अरि को तो मारा मैंने,
अपर शत्रु मारूँगा मैं ।
मैं ईश्वर, स्वामी, भोगी हूँ,
सिद्ध, सुखी, बलशाली मैं ॥१४॥

मैं श्रीमान, कुलीन, कौन है
मेरे सदृश मनुष्य ? कहो ।
मौज करूँगा, दान, यज्ञ
कहते अज्ञान--विमूढ़ अहो ॥१५॥

चंचल--भ्रांत--चित्त हो करके
मोह जाल में फँसे हुए
विषय भोग आसक्त अशुभ
पड़ते नरकों में गिरे हुए ॥१६॥

अहंकार से ग्रस्त अकड़ कर
धनोन्माद में पड़े हुए,
यज्ञ नाम के करते हैं
विधिहीन, दंभ में पड़े हुए ॥१७॥

अहंकार, बल, दर्प, कामवश
सदा क्रोधवश रहते हैं।
रहता मैं प्रति तन में मुझसे
द्वेष किया वे करते हैं ॥१८॥

उन नराधमों, जग–द्वेषी
क्रूरों को दंडित करता हूँ
अशुभ आसुरी विविध योनि में
बारंबार गिराता हूँ ॥१९॥

योनि आसुरी जन्म जन्म में
वे विमूढ़ जन पाते हैं,
पाकर मुझे न, हे कौन्तेय।
और अधम गति पाते हैं ॥२०॥

तीन नरक के द्वार समझ लो
आत्मनाश के कारक हैं।
काम, क्रोध हैं और लोभ
इनका तजना शुभदायक है ॥२१॥

तीन नरक के द्वारों से जो
नर विमुक्त हो जाता है,
आत्मश्रेय–आचारी बनता
वही परम गति पाता है ॥२२॥

करके त्याग शास्त्र विधि का
स्वेच्छापूर्वक जो चलता है
सिद्धि न सुख को पाता है वह
नहीं परम गति पाता है ।।२३।

अतः प्रमाण शास्त्र है तेरा
कार्याकार्य समझने में ।
शास्त्रविधान जानकर अर्जुन !
तू लगना निज कर्मों में ।।२४।।

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योग शास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संबाद का 'दैवासुरसंपद विभाग योग' नामक षोड़श अध्याय समाप्त हुआ ।

सप्तदश अध्याय

(श्रद्धात्रय विभाग योग)

ज्ञान की पहली शर्त्त है श्रद्धा । श्रद्धा के द्वार से ही ज्ञान के पावन प्रांगण में प्रवेश हो सकता है । पर प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने के कारण श्रद्धा के भी तीन प्रकार हैं, सात्त्विक, राजस एवं तामस । सात्विक श्रद्धावाले परमात्मा अथवा देवताओं का, राजसी श्रद्धावाले यक्ष राक्षसों का एवं तामसी श्रद्धावाले भूत-प्रेतों की ध्यान-उपासना करते हैं ।

इसी प्रकार गुणों के प्रभाव से भोजन, यज्ञ, तप, दानादि भी तीन प्रकार के होते हैं । सात्विक भोजन से आयु, सत्त्व, आरोग्य, बल, सुख, प्रीति आदि की विवृद्धि होती है । सोच सकते हैं, व्यक्ति एवं समाज के स्वास्थ्य, सुख, शांति एवं पारस्परिक प्रीति के लिए सात्विक भोजन कितना प्रयोजनीय है ।

दान महापुण्य कहा जाता है मगर सभी दान ठीक नहीं । दान वही श्रेष्ठ है जो निरपेक्ष भाव से, सत्कारपूर्वक देश, काल एवं पात्र का विचार करके दिया जाता है जिसमें लेनेवाला भी धन्य होता है एवं देनेवाला भी निहाल हो जाता है ।

तप और यज्ञ भी शुभ, अशुभ होते है । तामसी तप और यज्ञ को आसुरी, रावणी, मेघनादी अथवा शांबूकी कहना चाहिए । दुराग्रहपूर्वक स्वयं को पीड़ा देकर, साथ ही दूसरों के अहित के लिए तप-यज्ञादि कर्म किए जाते हैं वे इसी कोटि के हैं । इससे पूरा समाज राष्ट्र, अपितु विश्व खतरे में पड़ सकता है । आधुनिक, भौतिक, वैज्ञानिक, आसुरी सभ्यता का सुफल एवं कुफल हम देख ही रहे हैं । एक ओर जहाँ उसने हमारे लिए अनेक सुख-सुविधाएँ जुटाई हैं वहाँ दूसरी ओर हमारी नीच प्रवृत्तियों को उभाड़ा है एवं विश्वसंहार की भूमिका प्रस्तुत कर दी है ।

अर्जुन बोले—

त्याग शास्त्रविधि श्रद्धापूर्वक
कृष्ण ! यज्ञ जो करते हैं,
सात्विक, राजस, तामस उनकी
निष्ठा को क्या कहते हैं ॥१॥

श्री भगवान बोले—

मनुजों में स्वभाव से ही यह
त्रिविधा श्रद्धा होती है ।
उसको सुनो सात्विकी या
राजसी, तामसी, होती है ॥२॥

सबकी श्रद्धा हे भारत !
सत्त्वानुरूप ही होती है ।
श्रद्धामय सब पुरुष, पुरुष त्यों
जैसी श्रद्धा होती है ॥३॥

सात्विक भजते हैं देवों को
यज्ञ, रक्ष राजस भजते ।
भूतगणों को, प्रेतों को
दूसरे तामसी जन भजते ॥४॥

छोड़ शास्त्रविधि घोर तपस्या
जो जन करते रहते हैं,
अहंकार अतिदंभ युक्त वे
कामराग बल प्रेरित हैं ॥५॥

तन के पंच महाभूतों को
क्लेश मूढ़ जन देते हैं ।
देते हैं अंतस्थ मुझी को
क्लेश असुर वे निश्चय हैं ॥६॥

मनुजों को आहार प्रिय भी
तीन तरह के होते हैं ।
भेद सुनो, प्रिय इसी तरह से
यज्ञ, दान, तप होते हैं ॥७॥

आयु, सत्त्व, आरोग्यधिवर्द्धक,
वल, सुख, प्रीति वढ़ाता जो,
रस से भरा, स्निग्ध, पौष्टिक,
मन को रुचिकर, सात्विक है वो ॥८॥

तीखे; खट्टे, लोने, सूखे;
उष्ण, तीक्ष्ण, दाहक आहार
राजस लोगों को प्रिय होते
रोग, शोक के वढ़ें विकार ॥९॥

एक प्रहर का, नीरस, बासी
दुर्गंधित जो होता है,
अपवित्र, उच्छिष्ट खाद्य प्रिय
तामस जन को होता है ॥१०॥

विधिपूर्वक, कर त्याग फलेच्छा
जो सम्पादित है होता,
निज कर्त्तव्य समझकर, मन में
यज्ञ वही सात्विक होता ॥११॥

फल की इच्छा लिए दम्भ से
जो सम्पादित है होता,
भरतश्रेष्ठ ! तुम इसे जान लो
यज्ञ वही राजस होता ॥१२॥

मंत्र, दक्षिणा, अन्न, शास्त्रविधि,
सर्वहीन जो होता है,
श्रद्धा से विरहित जो होता
यज्ञ तामसी होता है ॥१३॥

देव, प्राज्ञ, गुरु, द्विज की पूजा,
शौच, सरलता जो होते,
ब्रह्मचर्यव्रत और अहिंसा
शारीरिक तप कहलाते ॥१४॥

अनुद्वेगकर वचन सत्य, प्रिय,
जो हितकारी हैं होते,
धर्मशास्त्र अभ्यास जपादिक---
ये वाचिक तप कहलाते ॥१५॥

मन प्रसन्नता, मौन, आत्म—
संयम आदिक जो हैं होते,
भावशुद्धि, सौम्यत्वचित्त
ये मानस तप है कहलाते ॥१६॥

तीन तरह के तप श्रद्धा से
युक्त पुरुष जो करते हैं,
फल की आकांक्षा तज कर
उसको सात्विक तप कहते हैं ॥१७॥

जो सत्कार, मान, पूजाहित
दंभ सहित तप करते हैं,
अस्थिर और अनिश्चित उस
तप को ही राजस कहते हैं ॥१८॥

अपने को पीड़ा देकर जन
दुराग्रही तप करते हैं।
अथवा पर के नाश हेतु
उसको तामस तप कहते हैं ॥१९॥

देना उचित समझकर जो
निरपेक्ष दान ही देते हैं,
देश, काल या पात्र देखकर
उसको सात्विक कहते हैं ॥२०॥

बदला पाने की आशा से
फलुद्दिश्य जो देते हैं,
दुख के साथ दिया जाता जो
दान राजसी कहते हैं ॥२१॥

देश, काल या पात्र विचारे
बिना, दान जो होता है,
बिना मान के, तिरस्कार से
दान तामसी होता है ॥२२॥

'ॐ तत्सत्' इन नामों से
निर्देश ब्रह्म का होता है,
आदिकाल में वेद, यज्ञ, द्विज
सर्जन इनसे होता है ॥२३॥

'ॐ' शब्द का उच्चारण कर
यज्ञ, दान, तप करते हैं,
जो करते हैं ब्रह्म परायण
सब थिधानवत् करते हैं ॥२४॥

मोक्षार्थी 'तत्' का उच्चारण
कर स्वकर्म सब करते हैं,
फल की आशा रखे बिना वे
यज्ञ, दान, तप करते है ॥२५॥

सद्भावों में, साधुभाव से
'सत्' प्रयोग में आता है,
पार्थ ! विशद कर्मों में भी यह
'सत्' प्रयोग में आता है ॥२६॥

यज्ञ, दान, तप में दृढ़ता को
'सत' स्वरूप भी कहते हैं,
तत् निमित्त सब कर्मों को भी
'सत्' स्वरूप ही कहते हैं ॥२७॥

श्रद्धाविरहित यज्ञ, दान तप
या जो कर्म अनेकों हैं
'असत्' नाम से अभिहित होते
पार्थ ! न किसी लोक के हैं ॥२८॥

ॐ तत्सत

इस प्रकार श्री मद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का "श्रद्धात्रय विभाग योग" नामक सप्तदश अध्याय समाप्त हुआ।

अष्टादश अध्याय

(संन्यास योग)

अष्टादश अध्याय गीता-मंदिर का कलश कहा जाता है। यह अध्याय मानों संपूर्ण गीता का सार-संक्षेप है।

संन्यास का अर्थ है सर्वत्याग, संपूर्ण त्याग। सर्वत्याग होने पर मात्र बच रहेगा त्याग-कर्त्ता यानी आत्मा, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन परमात्मा।

सर्वत्याग मानव जीवन में कैसे फलित हो ? गीतोक्त उपाय है—निष्काम कर्म एवं फलासक्ति त्याग। निष्काम कर्म ही संन्यास है, फलासक्ति त्याग वास्तविक त्याग है। इनसे फलित होता है मन-त्याग। मन-त्याग ही सर्व-त्याग है।

यज्ञ, दान, तपादि शुभ कर्म अवश्य करणीय हैं मगर निष्काम भाव से।

त्याग, ज्ञान, कर्त्ता, धृति, बुद्धि, सुख आदि भी प्रकृति जात गुणों के कारण सात्विक, राजस एवं तामस, तीन प्रकार के होते हैं।

इसी प्रकार प्राकृतिक गुणों के आधार पर मनुष्य का भी वर्गीकरण किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—इन चार वर्णों का विभाजन किसी मनुष्य, मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने नहीं किया। ये स्वाभाविक हैं, चिरकाल से चले आ रहे हैं। हम नाम धरें या न धरें, चार प्रकार के मनुष्य पृथ्वी पर सदा रहे हैं, सदा रहेंगे।

मनुष्य अपने ही स्वभाव में बँधा हुआ है। अतः अपने स्वभाव के अनुरूप स्वाभाविक कर्म करता हुआ मनुष्य मुक्ति का पात्र हो सकता है। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि क्या करना चाहिए वरन महत्वपूर्ण यह है कि जो भी स्वाभाविक कर्म हैं उन्हें कैसे करना चाहिए।

ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन, अनुसंधान द्वारा ज्ञान संपादन करता हुआ, क्षत्रिय राष्ट्रहित युद्ध करता हुआ, वैश्य समाजहित व्यवसाय करता हुआ एवं शूद्र श्रम द्वारा समाज सेवा करता हुआ मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

(१) सांसारिक वैभव विकास से उदासीन ज्ञानोपासक, सत्यान्वेषी, शमदमादि नौ गुणों से संपन्न मनुष्य ब्राह्मण है ।

(२) राष्ट्रहित सत्ता एवं शक्ति का उपासक, बाहुबल युक्त, युद्धकुशल, शौर्य-तेजादि छ गुणों से संपन्न व्यक्ति क्षत्रिय है ।

(३) व्यवसाय बुद्धि से संपन्न, लेनदेन में चतुर, व्यवहार कुशल व्यक्ति वैश्य है । कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य उसके स्वभावसिद्ध कर्म हैं ।

(४) केवल शारीरिक श्रम ही जिसका अवलंबन है, वह शूद्र है ।

इस वर्गीकरण में किसी की निंदा नहीं है, यथार्थ का उल्लेख है ।

हम किसी वर्ग या वर्ण के हों, यदि हम निष्काम भाव से फलासक्ति तज कर स्वाभाविक एवं नियत कर्म करते हुए परमात्मा की शरण ले सकते हैं, उसका स्मरण, ध्यान कर सकते हैं और परिणामतः इन्द्रियजित, मनजित एवं गतकाम हो सकते हैं तो मुक्त ही हैं ।

अर्जुन बोले—

महाबाहु ! संन्यास, त्याग का
तत्त्व मुझे अब बतलाएँ ।
हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन !
पृथक-पृथक सब समझाएँ ।।१।।

श्री भगवान बोले—

काम्यकर्म के वर्जन को
संन्यास सुधीजन कहते हैं ।
सब कर्मों के फल त्याग को
त्याग विचक्षण कहते हैं ।।२।।

कर्म दोषमय अतः त्याज्य है
कुछ मनोषिगण कहते हैं।
यज्ञ, दान, तप त्याज्य नहीं हैं
अपर सुधीजन कहते हैं ॥३॥

त्याग विषय में मेरा निर्णय
हे भारत ! अब तुम सुन लो
त्रिविध त्याग है पुरुषव्याघ्र !
इसका वर्णन मुझ से सुन लो ॥४॥

यज्ञ, दान, तप कर्म कभी भी
त्याज्य नहीं करने ही हैं।
यज्ञ, दान, तप मनीषियों को
भी शुचि, पावन करते हैं ॥५॥

ये सब हैं करणीय कर्म
आसक्ति फलेच्छा तज करके
पार्थ ! बताया मैंने निश्चित
उत्तम मत निर्णय करके ॥६॥

नियत कर्म का त्याग कभी भी
उचित नहीं, संन्यास नहीं।
मोहग्रस्त हो त्याग कर्म का
तामस है, वह त्याग नहीं ॥७॥

कठिन जान, कष्टों के भय से
कर्म त्याग जो करता है,
उसका राजस त्याग, त्याग का
सुफल नहीं मिल सकता है ॥८॥

करना है कर्त्तव्य कर्म, यह जान
उसे जो है करता,
संग छोड़ फल आश छोड़कर
त्याग वही सात्विक होता ॥९॥

राग न रखता कुशल कर्म में,
अकुशल द्वेष न रखता है
त्यागी, सात्विक नर, मेधावी
संशय हीन विचरता है ॥१०॥

संभव नहीं देहधारी के लिए
सभी कर्मों का त्याग।
त्याग कर्मफल का जो करता
त्यागी वही, सत्य है त्याग ॥११॥

इष्ट, अनिष्ट, मिश्र ये तीनों
त्रिविध कर्मफल होते हैं।
अत्यागी फँसते हैं इनमें
संन्यासी विमुक्त जन हैं ॥१२॥

कर्ममात्र की सिद्धि के लिए
कारण पाँच समझ लेना,
सांख्यशास्त्र में कहे गए हैं
उनको मुझसे सुन लेना ॥१३॥

क्षेत्र और कर्त्ता हैं सुन लो
पृथक पृथक ये साधन हैं,
भिन्न भिन्न चेष्टाएँ हैं ये
पंचम दैव सनातन है ॥१४॥

काय, वचन, मन से जितने भी
मनुज कर्म सब करते हैं,
न्यायपूर्ण, चाहे विरुद्ध हों,
हेतु पाँच ही होते हैं ॥१५॥

इतने पर भी जो अपने को
कर्त्ता माना करता है,
मलिन बुद्धि के कारण दुर्मति
कुछ भी नहीं समझता है ॥१६॥

अहंकार का भाव न जिसमें
नहीं विवेक मलिनता है,
सारे जग की हत्या कर भी
नहीं मारता, बँधता है ॥१७॥

ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता होते ये
तीन कर्म के प्रेरक हैं।
करण, कर्म, कर्त्ता होते,
ये तीन कर्म संग्राहक हैं ॥१८॥

गुण भेदों से ज्ञान, कर्म,
कर्त्ता ये तीनों होते है।
सांख्यशास्त्र में वर्णन आता
सुनो त्रिधा, ये होते हैं ॥१९॥

सब भूतों में एक भाव
अविनाशी देखा करते हैं।
वही ज्ञान सात्विक, विभिन्न में
जो अभिन्न लख लेते हैं ॥२०॥

जिससे सब भूतों में नाना
भाव दिखाई देता है।
वही ज्ञान राजस, विभिन्न में
भिन्न दिखाई देता है ॥२१॥

जिसके द्वारा एक कार्य में
सब आभासित होता है,
तत्त्वहीन जो अल्पज्ञान है
वह तामस कहलाता है ॥२२॥

राग द्वेष तज, छोड़ फलेच्छा
नियत कर्म जो होता है,
निष्कामी जन जिसको करते
वह सात्विक कहलाता है ॥२३॥

पुरुष सकाम फलेच्छावाले
अहंकार वश करते हैं
जिन कर्मों को बहु प्रयास कर
वे राजस कहलाते हैं ॥२४॥

बिना विचारे हानिलाभ, सामर्थ्य
और हिंसादिक को
जो सब कर्म मोहवश करते
तामस हैं कहलाते सो ॥२५॥

संगमुक्त, अभिमान रहित
उत्साह धैर्यपूरित नर जो,
सिद्धि असिद्धि समान समझते
निश्चय सात्विक कर्त्ता सो ॥२६॥

रागी, कर्मफलेच्छावाला
लोभी जो हिंसात्मक है
मलिन हर्षशोकान्वित जो
राजस कर्त्ता कहलाता है ॥२७॥

संस्कारों से हीन, आलसी,
जो अयुक्त, जड़ है, शठ है,
घोर विषादी, दीर्घसूत्रता–
ग्रस्त तामसी कर्त्ता है ।।२८।।

बुद्धि, धृति के तीन भेद
गुणतः होते मुझसे सुन लो,
पूर्ण रूप से पृथक पृथक, मैं
बतलाता हूँ तुम गुन लो ।।२९।।

क्या प्रवृत्ति है, क्या निवृत्ति है,
कार्य, अकार्य, अभय, भय है ?
बंध, मोक्ष क्या ? बुद्धि जानती,
वही बुद्धि बस, सात्विक है ।।३०।।

कार्य अकार्य अधर्म धर्म का
भ्रांत विवेक किया करती,
जो निर्णय में गलती करती
वही बुद्धि राजस होती ।।३१।।

जो अधर्म को धर्म, धर्म को
जो अधर्म माना करती,
तमसावृत, विपरीत मानती,
वही बुद्धि तामस होती ।।३२।।

एकनिष्ठ धृति से मनुष्य
मन, प्राणेन्द्रिय क्रियाओं को
धारण करता योगयुक्त हो
सात्विक धृति पार्थ है सो ॥३३॥

फलाकांक्षी हो जिस धृति से
कामार्थ धर्म धारण करता,
वही राजसी धृति पार्थ !
आसक्ति संग जिसमें होता ॥३४॥

जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुज
भय शोक विषाद न तजता है
वही तामसी धृति पार्थ !
मद-स्वप्नग्रस्त नर रहता है ॥३५॥

हे भारत ! मुझसे अब सुन लो,
तीन तरह का सुख होता,
जिससे अन्त दुःख का होता,
अभ्यासों से मन रमता ॥३६॥

जो पहले विष-सा लगता है
अमृत-सा फल होता है,
वह सात्विक सुख होता है
जो आत्मज्ञान-फल होता है ॥३७॥

विषय इन्द्रिय संयोगों से
जो अमृत सम लगता है,
फल में होता विष समान
वह सुख राजस कहलाता है ॥३८॥

जो आरम्भ अन्त में सुख
आत्मा को मोहित रखता है
निद्रालस्यप्रमाद जात वह
सुख तामस कहलाता है ॥३९॥

पृथ्वी भर में, स्वर्गलोक में
देवों में भी एक नहीं,
प्रकृतिजात जो मुक्त गुणों से
ऐसा प्राणी एक नहीं ॥४०॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के
कर्म अलग हैं बँटे हुए।
उनका है आधार स्वभावज,
गुण--विभाग हैं खड़े हुए ॥४१॥

शम, दम, शौच, क्षान्ति, आर्जव, तप
औ' आस्तिम्य, ज्ञान, विज्ञान,
ये भी ब्राह्मण के स्वभावजः
कर्म गुणाश्रित, अर्जुन जान ॥४२॥

शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्ध में
अरि को पीठ न दिखलाना,
दान और ऐश्वर्य भाव
हैं क्षात्र कर्म सबने जाना ॥४३॥

कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा
वैश्य कर्म, अर्जुन ! जानो।
सेवा है स्वभाव आधारित
शूद्रकर्म, भारत ! मानो ॥४४॥

निज निज कर्मों में रत रहकर
पुरुष सिद्धि पा जाता है
कैसे वह स्वकर्म रत, मुझसे
सुनो, मोक्ष पा जाता है ॥४५॥

प्राणिमात्र जिससे प्रवृत्त हैं,
व्याप्त जगत जो सारा है,
उसका अर्चन कर स्वधर्म से
पुरुष मोक्ष पा जाता है ॥४६॥

है गुणहीन स्वधर्म श्रेष्ठ
परधर्म सदा अपकारी है।
जो स्वभाव से नियत कर्म है
वही पाप-दुखहारी है ॥४७॥

सहज कर्म कौन्तेय ! सुनो,
है दोषयुक्त भी त्याज्य नहीं ।
होता है आरम्भ दोष से
जहाँ अग्नि है धुआँ वहीं ॥४८॥

अनासक्त सर्वत्र हुआ जो,
मन जीता, गतकाम हुआ,
परम सिद्धि नैष्कर्म्य मिली,
उसका सच्चा संन्यास हुआ ॥४९॥

सिद्धि प्राप्त कर जिस प्रकार नर
ब्रह्म प्राप्त कर लेता है ।
सुन समासतः मुझसे चरमोत्--
कर्ष ज्ञान का होता है ॥५०॥

शुद्धि बुद्धि से युक्त पुरुष
दृढ़ता से आत्मवशी होता ।
तज शब्दादि पंच विषयों को
रागद्वेष--विजयी होता ॥५१॥

सेवन कर एकान्त, मिताशी
काय, वचन, मन वश करता
ध्यान योग में नित्य मग्न,
वैराग्य सदा धारण करता ॥५२॥

अहंकार, बल, दर्प, काम तज,
क्रोध, परिग्रह तजता है,
ममतारहित शांत होकर वह
ब्रह्मभाव को गहता है ॥५३॥

ब्रह्मप्राप्त रहता प्रसन्न चिर
शोक न इच्छा करता है।
भूतमात्र में सम रहता,
मद्भक्ति परम पा लेता है ॥५४॥

मैं कैसा हूँ और कौन हूँ,
जान भक्ति से लेता है,
मुझे तत्त्वतः जान, मुझी में
वह प्रवेश कर जाता है ॥५५॥

मेरा आश्रय लेनेवाला
सर्व कर्म करता-करता,
कृपा प्राप्त करके मेरी
शाश्वत अव्यय पद को पाता ॥५६॥

मन से सब कर्मों को मुझमें
अर्पण करके, मत्पर हो,
बुद्धियोग का आश्रय लेकर
नित्य निरन्तर तन्मय हो ॥५७॥

चित्त लगा मेरे प्रसाद से
दुस्तर संकट होगा पार।
नहीं सुनेगा अहंकारवश,
हो जाएगा निश्चय क्षार ।।५८।।

'मैं न करूँगा युद्ध' अहंवश
यदि ऐसा तू मानेगा,
मिथ्या निश्चय वह, घसीट
तेरा स्वभाव ले जाएगा ।।५९।।

निज स्वभाव से कर्मों के
बंधन में है तू बँधा हुआ।
वही करेगा, नहीं चाहता
मोहपाश में फँसा हुआ ।।६०।।

प्राणिमात्र के हृदय देश में
वह ईश्वर निवास करता,
माया से आरूढ़ यंत्र पर
चलने को प्रेरित करता ।।६१।।

शरण ग्रहण कर उसकी ही
तू सर्वभाव से हे भारत !
पाएगा उसके प्रसाद से
परम शांति-पद थिर शाश्वत ।।६२।।

महागुह्य यह ज्ञान कहा है
मैंने तेरे ही हित में।
पूर्ण रूप से तू विचार कर
करे वही भाए मन में ।।६३।।

सबसे बढ़ कर गूढ़ वचन
फिर भी कहता हूँ तू सुन ले।
मेरा तू है प्रिय बहुत,
तेरे हित कहता हूँ गुन ले ।।६४।।

ध्यान लगा मुझमें, सुभक्त बन
यजन, नमन, मेरे हित कर।
मुझको पा लेगा, मेरा प्रण
सत्य जान, मेरे प्रियवर ।।६५।।

सब धर्मों का परित्याग कर
शरण ग्रहण बस, मेरी कर।
सब पापों से मुक्त करूँगा
निश्चय तुझको, शोक न कर ।।६६।।

नहीं तपस्वी, भक्त नहीं,
सुनने की जिसको चाह नहीं,
मुझसे रखता द्वेष पार्थ !
उसको यह कहना कभी नहीं ।।६७।।

परम गुह्य यह ज्ञान मगर
मेरे भक्तों को जो देगा,
मेरी परम भक्ति पा करके
मुझको निश्चय पावेगा ॥६८॥

मनुजों में उससे बढ़कर
प्रिय और नहीं कोई मेरा,
पृथ्वी भर में होने वाला
और न कोई प्रिय मेरा ॥६९॥

मेरे इस सम्वादधर्म को
पढ़ा करेगा जो मानव,
ज्ञान-यज्ञ द्वारा उससे
पूजित होऊँगा मैं पांडव ॥७०॥

द्वेष रहित हो, श्रद्धापूर्वक
जो केवल सुन पावेगा,
हो विमुक्त वह पुण्यवान भी
शुभ्रलोक ही जावेगा ॥७१॥

हो एकाग्रचित्त क्या तूने
पार्थ ! सुनी वाणी मेरी ?
मोहराशि अज्ञान जनित थी
क्या वह नष्ट हुई तेरी ? ॥७२॥

अर्जुन बोले—

अच्युत ! तव प्रसाद से मेरा
मोह मिटा है, ज्ञान हुआ ।
गत-सन्देह, बचन तव
पालन को अब मैं तैयार हुआ ।।७३।।

संजय ने कहा—

वासुदेव अर्जुन महात्मा
का सम्वाद सुना मैंने ।
रोमांचित करनेवाला
अद्‌भुत सम्वाद सुना मैंने ।।६४।।

व्यासदेव की कृपा हुई, यह
गुह्यज्ञान सुन पाया मैं ।
योगेश्वर साक्षात् कृष्णमुख
गुह्य योग सुन पाया मैं ।।७५।।

हे राजन ! केशव अर्जुन का
वह अद्‌भुत पवित्र संवाद,
सोच-सोच हर्षित होता हूँ,
बार-बार करता हूं याद ।।७६।।

हरि का अद्‌भुत रूप सुमिर कर
बार बार विस्मित होता,
राजन ! पुनः पुनः हर्षित
होता हूँ, आनंदित होता ॥७७॥

योगेश्वर श्रीकृष्ण जहाँ हैं,
पार्थ धनुर्धर रहें जहाँ।
मेरी निश्चित नीति और मति,
हैं श्री, विजय, विभूति वहां ॥७८॥

ॐ तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद में, ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में, श्रीकृष्णार्जुन संवाद का 'संन्यास योग' नामक अष्टादश अध्याय समाप्त हुआ।

तुम्हीं हो माता, तुम्हीं पिता हो ।
हो बंधु तुम्हीं, तुम्हीं सखा हो ॥
तुम्हीं हो विद्या, हो द्रव्य तुम्हीं ।
तुम्हीं हो मेरे सब, देव ! तुम्हीं ॥

क्या पूजन क्या अर्चन रे !
उस निस्सीम ब्रह्म का मंदिर यह ससीम मानव तन रे !

नव दरवाजे औ' गवाक्ष इसमें शोभित हैं अनुपम रे !
सतमँजिला सुंदर मंदिर लख विस्मित सुर, नर, मुनिगण रे !

बाहर की शोभा अद्‌भुत है भीतर का क्या वर्णन रे !
शेष नाग पर तत्त्व पृथ्वी उस पर कमल चतुर्दल रे !

कोटि कोटि देवियाँ-देव इसमें बसते हैं निशिदिन रे !
सूर्य, चंद्र, पावक, विद्युत् रहते नक्षत्र सब ग्रहगण रे !

अँदर धँसो द्वार पर देखो वक्रतुंड शोभित हैं रे !
कोटि सूर्य सम प्रभादीप्त वे सिद्धिनाथ गणनायक रे !

क्षीरोदधि में शयन कर रहे विष्णु रमापदसेवन रे !
नाभिकमल पर वेदमूर्ति बैठे ब्रह्मा चतुरानन रे !

सप्तसुरों का दिव्य यहाँ संगीत छिड़ा है अविरत रे !
शंख, मृदंग, मुरज, वीणा, घंटा, नभ का स्वर होता रे !

राग छतीसों और रागिनी की होती धुन अनहद रे !
प्रेमी साधक दास कबीरा खोया सुनसुन गुनगुन रे !

आदि शक्तियाँ सरस्वती, गायत्री आदिक जितनी रे !
इसको आश्रित करके रहतीं लक्ष्मी, दुर्गा, चंडी रे !

इन समग्र दृश्यों का साक्षी देख रहा मैं प्रतिक्षण रे !
ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर का मैं द्रष्टा सबसे पर हूँ रे !
क्या पूजन क्या अर्चन रे !

—शचीन्द्र कुमार

(हिंदी की महान कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम दो पंक्तियों पर है जिसका आभार लेखक स्वीकार करता है।)